समकालीन कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन

(SAMAKALEEN KAHANI KA SAMAJSASTREEYA ADHYAYAN)

Thesis
Submitted to

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

In

Hindi

Under the faculty of Humanities

By

षीना एन.बी.

SHEENA N.B.

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

JUNE 2009

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN - 682 022, KERALA, INDIA

Prof. (Dr.) A. ARAVINDAKSHAN
Dean, Faculty of Humanities
Cochin University of Science and Technology

Phone: (Off) 0484-2575954
(Res) 0484-2424004
Mobile: 9447667313

Certificate

This is to certify that the research work presented in the thesis entitled **"Samakaleen Kahani Ka Samajsastreeya Adhyayan"** is an authentic record of research work carried out by Sheena N.B under my supervision at the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, in partial fullfillment of the requirements for the degree of DOCTOR OF PHILOSOPHY in Hindi and that no part thereof has been included for the award of any other degree.

Dr. A. Aravindakshan
Professor
Supervising Guide

Place CUSAT
Date 26-06-2009

Declaration

I hereby declare that the thesis entitled **"Samakaleen Kahani Ka Samajsastreeya Adhyayan"** is the bonafide report of the original work carried out by me under the supervision of Dr. A. Aravindakshan at the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology and no part there of has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree.

Place : CUSAT

Date 26 06-2009

Sheena N.B

भूमिका

कहानी समय के वैविध्यमय कथाबिन्दुओं का अर्थपूर्ण संयोग है। यह अर्थपूर्ण संयोग तभी संभव है जब मनुष्य के जीवन की सूक्ष्मताओं को अपनी गहराई में उतरकर ढूँढा जाता है। इसलिए कहानी में जीवन की रचनात्मक क्रमबद्धता की आंतरिक संरचना रहती है। अतः वह कम शब्दों में जीवनबोध का सृजन कर सकती है। कहानी द्‌वारा सृजित ऐसा जीवनबोध किसी एक काल विशेष तक सिमटनेवाला नहीं है। कहानी का यह परिदृश्य उसे एक सांस्कृतिक उत्पाद्‌य बनाता है। जो कहानी एक सांस्कृतिक उत्पाद्‌य की भूमिका निभाती है वह समकालीन है। समकालीन कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में समकालीन कहानी की इस सांस्कृतिक भूमिका का मूल्यांकन किया जाता है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहला अध्याय है कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन। कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन अंतरअनुशासनपरक अध्ययन है। समाजशास्त्र वस्तुतः कहानी से भिन्न तथा स्वतंत्र अनुशासन है। कहानी की समीक्षा के लिए इसको इसलिए आधार बनाया जाता है कि विवेच्य कहानी को अधिकाधिक गंभीर बना सके। यह अध्ययन विधि कहानी की समीक्षा को व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परखने की सुविधा प्रदान करती है। कहानी की इस समीक्षा पद्धति से जुड़े हुए सैद्धांतिक पक्षों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

दूसरा अध्याय है समकालीन कहानी का मध्यवर्ग समाज शास्त्रीय विश्लेषण। सामाजिक एवं सांस्कृतिक अंतर्विरोधों के आकलन के संदर्भ में हम मध्यवर्गीय उपसंस्कृति को उपेक्षित नहीं कर सकते। क्योंकि मध्यवर्गीय उपसंस्कृति का विश्लेषण कई सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को व्यक्त कर देता है। समकालीन कहानी में अभिव्यक्त मध्यवर्गीय आचार, विचार एवं विश्वासों के ज़रिए समकालीन राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को परखने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

तीसरा अध्याय समकालीन कहानी की राजनीति के समाजशास्त्रीय आयामों के विपुल संदर्भों पर केंद्रित है। इसमें निरंकुश सत्ता और उसके कार्यकलापों पर विस्तार से विचार किया गया है। वर्चस्व के आगे बेबस बने आम आदमी के ज्वलंत अनुभवों को इसमें प्रमुखता दी गयी है। साथ ही जातिवाद, सांप्रदायिकता, पूँजीवादी संस्कृति आदि संकीर्ण सामूहिक अस्मिताओं का विश्लेषण कर समकालीन राजनीति के मानवविरोधी पक्षों के आकलन का प्रयास इसमें किया गया है।

चौथा अध्याय है समकालीन कहानी सांस्कृतिक दृष्टि का समाजशास्त्र। मानव केंद्रित अवधारणा से हटकर वर्चस्व केंद्रित संस्कृति को समकालीन कहानी विस्तृत पटल पर उतारती है। अलगाववादी, वरेण्यतावादी, बाज़ारवादी एवं पुरुषसत्तात्मक दायरे में सिमटकर नष्ट होनेवाली संस्कृति शोषण के लंबे इतिहास को दर्ज करती है। संस्कृति की सही समझ के परिप्रेक्ष्य में शोषण के इस लंबे इतिहास को परखने का प्रयास इसमें किया गया है।

पाँचवाँ अध्याय है समकालीन कहानी का प्रतिरोधी संसार। समकालीन कहानी अपसंस्कृति के प्रतिरोध के लिए लघु समाज के यथार्थों को सामने ले आती है। लघु समाज के प्रतिरोध का संबंध जिसप्रकार विद्रोह से है उसीप्रकार सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की प्रक्रियाओं से भी है। समकालीन कहानी में अभिव्यक्त प्रतिरोध के इन विभिन्न धरातलों को विश्लेषित करने का प्रयास इसमें किया गया है।

इस शोध कार्य में मेरा मार्ग निर्देशक कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आदरणीय गुरुवर प्रो. डॉ. अरविन्दाक्षन जी रहे, जिन्होंने बहुमूल्य सुझाव और सहयोग प्रदान करके मेरे शोध कार्य को आगे बढ़ाया। उनके विद्वतापूर्ण मार्ग निर्देशन के कारण यह शोध कार्य संपन्न हुआ है। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

हिन्दी विभाग के अन्य गुरुजनों के सहयोग के प्रति भी आभारी हूँ।

इस प्रयास को सफल बनाने में मित्रों एवं बंधुजनों का सहयोग रहा है। उनके प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ।

मेरे इस लघु प्रयास में खामियाँ हो सकती हैं। उन खामियों के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

सविनय

हिन्दी विभाग — षीना एन.बी.
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चि-682 022

तारीख

अनुक्रम

अध्याय - 1 1 - 46

कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन

साहित्य और समाजशास्त्र

साहित्य का समाजशास्त्र

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रतिमान

कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन

समकालीन कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन के मुख्य क्षेत्र

मध्यवर्गीय अंतर्विरोध

राजनीतिक विसंगतियाँ

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विसंगतियाँ

अध्याय - 2 47 - 95

समकालीन कहानी का मध्यवर्ग समाजशास्त्रीय विश्लेषण

मध्यवर्गीय संस्कृति

मध्यवर्गीय आचरण का समाजशास्त्र

अर्थ केंद्रित दृष्टि

असीमित महत्वाकांक्षा

मध्यवर्गीय विशिष्टताबोध

बढ़ती धार्मिक कट्टरता

मध्यवर्गीय अप्रतिरोधी मानसिकता

आधुनिकता के झूठे चोंचले

मध्यवर्ग का विभाजित मन

अध्याय - 3 96 - 153

समकालीन कहानी - राजनीति के समाजशास्त्रीय आयामों के विपुल संदर्भ

राजनीतिक विसंगतियों के वस्तु चयन की भूमिका
अधिकार की राजनीति
सामाजिक समस्यता की विफलता और राजनीतिक अधिकार
राजनीति और न्याय
राजनीति और धर्म (सांप्रदायिकता)
राजनीति और पूँजीवाद
अधिकार और नवउपनिवेशवाद

अध्याय - 4 154 - 197

समकालीन कहानी - सांस्कृतिक दृष्टि का समाजशास्त्र

संस्कृति और समाजशास्त्र
संस्कृति चिंतन
संस्कृति और पुरुषसत्ता
संस्कृति और जाति व्यवस्था
संस्कृति और सांप्रदायिकता
संस्कृति का बाज़ारीकरण
संस्कृति और मीडिया

अध्याय - 5 198 - 254

समकालीन कहानी का प्रतिरोधी संसार

समकालीन कहानी का लघु समाज
लघु समाज की संस्कृति
लघु समाज का प्रतिरोध
स्त्री प्रतिरोध
दलित प्रतिरोध
सांप्रदायिक प्रतिरोध

उपसंहार 255 - 259

संदर्भ ग्रंथसूची 260 - 282

अध्याय - 1

कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन

साहित्य और समाजशास्त्र

साहित्य के साथ समाजशास्त्र का घनिष्ठ संबंध है। समाजशास्त्र समाज और मनुष्य का वैज्ञानिक एवं वस्तुगत अध्ययन है। इसमें सामाजिक संस्थाओं एवं उसकी तमाम प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें यह विचार किया जाता है कि समाज का सही अस्तित्व कैसे संभव है, उसकी कार्यपद्धति कैसी है, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक संस्थाएँ मिलकर समाज का ढाँचा कैसे बनाती हैं, समाज को परिवर्तित करनेवाली प्रक्रियाएँ कौन सी हैं, इन परिवर्तनों से सामाजिक संरचना पर क्या प्रभाव पड़ता है आदि। इससे पता चल जाता है कि समाजशास्त्र का कार्य क्षेत्र समाज और उसकी संभावनाएँ हैं। साहित्य की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। रचना किसी भी दृष्टि अथवा उद्देश्य से क्यों न रची जाए, वह सामाजिक संदर्भों से जुडे बिना अपना संवेदनात्मक आकार ग्रहण नहीं कर सकती। साहित्य और समाज का रिश्ता बहुआयामी है। "कोई भी कृति स्वायत्त ढंग से अस्तित्व में नहीं आती। कृति के अस्तित्व में आने के सामाजिक कारण होते हैं। अस्तित्व में आने के बाद कृति समाज में वितरित होती है। फिर समाज उसे ग्रहण करता है और प्रभावित होता है।"[1] अतः समाज कृति

---

1. डॉ. विश्वम्भर दयाल गुप्ता (सं) साहित्य समाजशास्त्रीय समीक्षा, जगदीश नारायणसिंह - साहित्य का समाजशास्त्र दृष्टि - प्रारूप एवं प्रासंगिकता, 1982 - पृ. 33

की रचना के पूर्व भी उपस्थित रहता है और कृति की रचना हो जाने के बाद भी। अर्थात् लेखक समाज से अनुभव प्राप्त करता है और अपने अनुभवों से रचित साहित्य के द्वारा समाज को एक दृष्टि देता है। अतः हम कह सकते हैं कि साहित्य और समाजशास्त्र को जोड़नेवाली कड़ी है समाज।

साहित्य में भी समाज है और समाजशास्त्र में भी समाज है तो यह देखना प्रीतिकर होगा कि दोनों में प्रकट होनेवाले समाज में क्या अंतर है? समाजशास्त्र के अंतर्गत सामाजिक घटकों, तत्वों, वस्तुओं, परिस्थितियों आदि का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में रागात्मकता और संवेदना के लिए कोई स्थान नहीं है। समाजशास्त्री शुद्ध वैज्ञानिक नियमों के अनुरूप समाज का विवेचन-विश्लेषण करता है। इसके विपरीत साहित्य में संवेदना का पक्ष अधिक प्रबल है। साहित्यकार के लिए समाज एक कच्ची वस्तु ही नहीं है; वह समाज में मूल्यों की खोज और उनका स्थापन करता है। यद्यपि समाजशास्त्र और साहित्य की प्रविधियाँ भिन्न हैं तो भी उनका लक्ष्य एक है। सामाजिकता के गंभीर अध्ययन पर केंद्रित सामाजिक हित की भावना दोनों में मौजूद है। दोनों का एक दूसरे का पूरक होना प्रत्येक के अध्ययन को वैज्ञानिक आधार प्रदान करता है।

साहित्य का समाजशास्त्र

'साहित्य का समाजशास्त्र' जैसी अवधारणा के मूल में साहित्य और समाज की अन्योन्याश्रितता की धारणा निहित है। इसके माध्यम से

साहित्य की सामाजिकता स्पष्ट हो जाती है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से वह शास्त्र जो साहित्य के माध्यम से समाज का अध्ययन करता है उसे साहित्य का समाजशास्त्र कहलाता है। मानेजर पाण्डे के अनुसार "साहित्य के समाजशास्त्र ने साहित्य की ऐसी धारणा विकसित की है जिससे साहित्य का सामाजिक स्वरूप स्पष्ट हो और समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या संभव हो।"[1] इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र के अनुसार साहित्य मात्र कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं है। उसकी दृष्टि में मात्र कलात्मक मानदण्डों के संदर्भ में किये जानेवाले साहित्य विश्लेषण अपूर्ण है। कलात्मक श्रेष्ठता की दृष्टि से रचना कितना ही महान क्यों न हो, जब तक वह समाज के गहन अध्ययन के संदर्भ में उपयोगी न होगा, तब तक साहित्य की उपादेयता संदिग्ध होगी। "साहित्य विश्लेषण का यह समाजशास्त्रीय नज़रिया परंपरागत तथा दूसरे समकालीन नज़रियों से आधारतः इस मुद्दे पर भिन्न है कि यह साहित्य को महज आस्वाद, उपभोग या आनन्द की वस्तु न मानकर उसे एक सामाजिक और सांस्कृतिक कर्म मानता है।"[2] अतः समाज से साहित्य के इसी सरोकार के अध्ययन को साहित्य का समाजशास्त्र कहलाता है।

इस प्रकार का अध्ययन करते समय ऐसे सवाल उठ सकते हैं कि सामाजिक आलोचना और समाजशास्त्रीय आलोचना में क्या अंतर है? केवल सामाजिक जानकारी देनेवाला साहित्य सामाजिक साहित्य होता है

---

1. मानेजर पाण्डे साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, 1989 पृ. 9
2. शिवकुमार मिश्र साहित्य और सामाजिक संदर्भ, 1977 पृ. 22-23

जब कि 'ऐसा क्यों' का उत्तर देनेवाला साहित्य समाजशास्त्रीय महत्व का साहित्य होता है। "साहित्य-विश्लेषण का यह समाजशास्त्रीय नज़रिया साहित्य की व्याख्या को ही अपना मूल कार्य नहीं मानता, वरन् साहित्य के स्रोतों का भी अध्ययन करता है, वह केवल इस प्रकार का उत्तर देकर ही चुप नहीं हो जाता कि साहित्य क्या है और वह सहृदय को किस सीमा तक आनन्दाभिभूत करता है, वरन् इन प्रश्नों से आगे जाकर वह ऐसे सवालों को भी हल करता है कि उसका सामाजिक कार्य क्या है, और समूचे मानव परिवेश में उसकी स्थिति कहाँ पर है?"[1] समाजशास्त्रीय अध्ययन के निष्कर्ष में किसी कृति को श्रेष्ठ-कनिष्ठ, अच्छा-बुरा, ग्राह्य-अग्राह्य के रूप में घोषित नहीं करता। 'क्या है?', 'कैसा है?' के संदर्भ में अध्ययन करना समाजशास्त्र की सीमा है। समाजशास्त्र में 'कैसा या क्या होना चाहिए' आदि सवाल नहीं उठाते जो प्रायः दार्शनिक एवं साहित्यकार करते हैं। इस संदर्भ में यह सवाल उठ सकते हैं कि साहित्यिक समीक्षकों द्वारा समाजशास्त्रीय समीक्षा को अपनाने के पीछे का उद्देश्य साहित्यिक है या समाजशास्त्रीय? ऐसे में यहाँ साहित्यिक समाजशास्त्रीय अध्ययन और समाजशास्त्रीय साहित्यिक अध्ययन की भिन्नता को स्पष्ट करना उचित है। साहित्यिक समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य समीक्षक साहित्य रूपी सामाजिक चेतना की सांस्कृतिक प्रक्रिया का विवेचन और मूल्यांकन करता है। समाजशास्त्रीय साहित्यिक अध्ययन

---

1. शिवकुमार मिश्र साहित्य और सामाजिक संदर्भ, 1977 पृ. 23

में समाजशास्त्री समाज संबंधी तथ्य एवं सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए साहित्य का अध्ययन करता है। प्रयोजन की भिन्नता के कारण इन दोनों प्रकार के अध्ययन में भिन्नता है। समाजशास्त्री द्वारा किये जानेवाले साहित्यिक अध्ययन का उद्देश्य साहित्यिक नहीं, समाजशास्त्रीय है। अतः साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में समीक्षक समाज संबंधी गतिविधियों पर विचार तो कर सकता है, पर इसके लिए साहित्य उसकी पहली शर्त होगी। वह साहित्य पर समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का आरोप नहीं लगा सकता। साहित्य की रचना प्रक्रिया को ध्यान में रखकर उसके अनुकूल ही समाजशास्त्रीय पद्धति का निर्धारण कर सकता है। इससे साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन साहित्यिक एवं सामाजिक दृष्टि से संपन्न हो सकता है। रमेश उपाध्याय के अनुसार - "साहित्यिक अध्येता द्वारा किये जानेवाले साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रकृति मूलतः समीक्षात्मक और मूल्यांकनपरक होती है। उसका प्रयोजन समाज की विकास प्रक्रिया में साहित्य की विकास प्रक्रिया का अध्ययन करना होता है, जिससे वह साहित्य में समय-समय पर होनेवाले परिवर्तनों, साहित्यिक आंदोलनों तथा प्रवृत्तियों, साहित्य में प्रचलित परंपराओं तथा उत्पन्न नवीनताओं के कारणों को समझ सके और समकालीन समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं तथा दार्शनिक दृष्टियों, कला सिद्धांतों एवं सौन्दर्याभिरुचियों के आलोक में साहित्यिक कृतियों, परंपराओं, आंदोलनों तथा प्रवृत्तियों की समीक्षा और मूल्यांकन कर सके।"[1] अतः

---

1. रमेश उपाध्याय - कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा, 1999 पृ. 2

साहित्य की समाजशास्त्रीय समीक्षा के लिए ज़रूरी है कि साहित्य को साहित्य ही मानें, समाजशास्त्र नहीं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य सर्जन की संपूर्ण प्रक्रिया को जन्म देनेवाले कारकों के संदर्भ में साहित्यिक समाज की संरचना और कृति के प्रभावों का अध्ययन होता है। इस संपूर्ण प्रक्रिया को समझने के लिए लेखक, कृति और समाज के परस्पर संबंध पर विचार किया जाता है। रचना प्रक्रिया में लेखक के व्यक्तित्व की छाप पड़ती है। अपने व्यक्तित्व के माध्यम से लेखक समाज को अभिव्यक्त करता है। लेखकीय व्यक्तित्व को रूपायित करने में उसके समाज का भी योगदान है। अतः तीनों के अंतः संबंध पर विचार करना ज़रूरी है। साहित्य, समाज और लेखक के परस्पर संबंध के बारे में नामवरसिंह ने लिखा है "साहित्य के निर्माण में इस बीच की कड़ी - लेखक के व्यक्तित्व का बहुत महत्व हैं और इस महत्व की महत्ता इस बात में हैं कि एक ओर इसका संबंध समाज से है तो दूसरी ओर साहित्य से। साहित्य की रचना प्रक्रिया में समाज, लेखक और साहित्य परस्पर एक दूसरे को इस तरह प्रभावित करते हैं कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः परिवर्तित और विकसित होता रहता है - समाज से लेखक, लेखक से साहित्य और साहित्य से पुनः समाज।"[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अवधारणा में साहित्य सिर्फ समाज का फोटोग्राफिक प्रतिबिंब

---

1. नामवरसिंह इतिहास और आलोचना, 1962 पृ. 46

नहीं और साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। विश्वम्भर दयाल गुप्ता के अनुसार "साहित्य का समाजशास्त्र इस मान्यता पर आधारित है कि साहित्य और समाज परस्पर अभिन्न हैं और साहित्य अध्ययन के माध्यम से साहित्य सर्जन प्रक्रिया, साहित्य वर्णित सामाजिक अन्तर्वस्तु, समाज और उसकी संस्थाओं के उद्‌भव एवं विकास, प्रगति, परिवर्तन, व्याप्त विचलन आदि का बोध संभव है।"[1] अतः कह सकते हैं कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में रचना के प्रत्येक स्तर में निहित सामाजिकता की व्याख्या होती है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रतिमान

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन करने की अनेक दृष्टियों का विकास हुआ है। समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या करनेवाली मुख्य तीन दृष्टियों के आधार पर साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रतिमानों को निर्धारित किया जा सकता है। वे इसप्रकार हैं -

(1) समाज में साहित्यकार और साहित्य की खोज

(2) साहित्य में समाज की खोज

(3) साहित्य और पाठक का संबंध

---

1. विश्वम्भर दयाल गुप्ता - साहित्य का समाजशास्त्र अवधारणा, सिद्धांत एवं पद्धति, 1982 पृ. 67

समाज में साहित्य

साहित्य के समाजशास्त्र में समाज में साहित्य के अस्तित्व एवं साहित्यकार की स्थिति पर भी विचार किया जाता है। समाज के विकास के साथ उसमें साहित्य एवं साहित्यकार की स्थिति भी बदलती रहती है। उदाहरण के लिए भक्तिकाल में साहित्य और साहित्यकार की स्थिति वही नहीं थी जो रीतिकाल में थी। भक्तिकाल में कवि समाज का अभिन्न अंग होता था। इसलिए साहित्य का व्यापक मौखिक प्रचार भी उस समय में होता था। इस समय के कवियों की सामाजिक प्रतिबद्धता भी उल्लेखनीय है। कबीर जैसे संत अपने जीवनादर्श और अनुभूतियों को काव्यमय भाषा में अभिव्यक्त करने के कारण कवि कहलाये थे। उन्होंने कवि बनने के लिए या मात्र रचनागत उद्देश्य से किसी आदर्श या अनुभव से जुड़ने का प्रयास नहीं किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तिकाल में साहित्य एवं साहित्यकार समाज के ज्यादा निकट थे। लेकिन रीतिकाल में स्थिति बदल गयी। रीतिकाल में साहित्य लोकजीवन से निकलकर दरबार में आ गया। रीतिकाल में साहित्यकार आश्रयदाताओं को खुश कराने के लिए लिखते थे। इसप्रकार साहित्य की दुनिया एक सीमित समूह में सिमट गया। इससे स्पष्ट होता है कि समय के अनुसार समाज में साहित्य की स्थिति भी बदलती रहती है। इसकेलिए कई सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियाँ जिम्मेदार हैं। अब सवाल यह उठता है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य के प्रतिपाद्य के अलावा समाज में 'साहित्य के अस्तित्व' पर क्यों विचार किया जाता है? इसका कारण यह

है कि खुद साहित्य की 'स्थिति' को अपने प्रतिपाद्य के परे जाकर समय की पहचान कराने की क्षमता है। इसलिए साहित्य की 'स्थिति' की जाँच कई सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को सामने ले आती है। उदाहरण के लिए आधुनिक काल में साहित्य की 'स्थिति' को ही ले लें। आधुनिककाल में साहित्य प्रकाशन एवं वितरण के व्यावसायिक चुंगल में फँसा हुआ है। आज संपूर्ण साहित्य को सिर्फ व्यावसायिक लाभ की दृष्टि से आँका जाता है। मानवीय आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति को आर्थिक लाभ के तराजू पर तौले जाने की यह प्रवृत्ति साहित्य की सामाजिक अवस्था को स्पष्ट करती है। साथ ही यह सांस्कृतिक विघटन की एक गंभीर समस्या को सामने ले आती है। समकालीन समाज में 'कविता की धरती' पर विचार करते हुए प्रसिद्ध आलोचक ए. अरविन्दाक्षनजी ने इसप्रकार लिखा है - "विज़न 2020 की योजना सुनने में मोहक तो लगती है। सवाल यह है कि यह 'विज़न प्लान' किस तरह के समाज के निर्माण के लिए है? इन विडम्बनाओं के बीच हमें अपने समाज और उसकी लघु इकाइयों तथा उसके भविष्य के बारे में विचार करना पड़ रहा है। अतः आम जीवन में कविता का मुख्य न होना मात्र कविता की समस्या नहीं है। यह हमारे सांस्कृतिक विघटन की समस्या है।"[1] यहाँ समाज में साहित्य की स्थिति की खोज कई सांस्कृतिक विघटन की बारीकियों को व्यक्त करता है। इसलिए साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में समाज में साहित्य की 'स्थिति' की खोज एक

---

1 ए. अरविंदाक्षन कविता की धरती, पक्षधर (संकलन-2) 2007 पृ. 60

मुख्य मुद्दा है, जिसके ज़रिये साहित्य रूपी सांस्कृतिक कर्म को भली-भाँति समझ सकते हैं।

साहित्य में समाज

साहित्य के समाजशास्त्र में समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या पर बल देता है। साहित्य और समाज का संबंध अत्यंत जटिल है। वह इसलिए कि रचनाकार समाज का जैसा का जैसा वर्णन नहीं करता। वह अपनी रचना में सामाजिक यथार्थ की पुनर्रचना करता है। इसलिए किसी रचना का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते समय रचना में पुनर्रचित सामाजिक अंतर्वस्तु को वास्तविक सामाजिक परिवेश के संदर्भ में रखकर देखना है। "साहित्य विश्लेषण का यह नज़रिया साहित्य को उसके सामाजिक स्रोतों और उसकी सूक्ष्म सामाजिक अंतर्वस्तु को मद्देनज़र रखते हुए एक जीवंत रचनाशीलता के रूप में देखता और अपने विश्लेषण का विषय बनाता है।"[1] अतः कह सकते हैं कि साहित्य का समाजशास्त्री साहित्य की रचना प्रक्रिया की रक्षा करते हुए उसकी सामाजिकता की खोज करता है। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में रचना के मूल स्रोत, रचना की क्षमता, उसकी सीमा एवं कारणों का पता लगाना है। इसके लिए आलोचक को रचनाकार का व्यक्तित्व, रचना में चित्रित यथार्थ, यथार्थ को प्रस्तुत करने की पद्धति, तत्संबंधी भाव विचार आदि मुद्दों से गुज़रना पड़ता है। ये मुद्दे एक

1. शिवकुमार मिश्र - साहित्य और सामाजिक संदर्भ, 1977 पृ. 19

दूसरे से बिल्कुल निरपेक्ष नहीं हैं, बल्कि रचना की क्षमता को निर्मित करनेवाली परस्परपूरक इकाइयाँ हैं। मुक्तिबोध के अनुसार - "आलोचक के लिए - लेखक का व्यक्तित्व, यथार्थ प्रस्तुत करने की उसकी पद्धति तथा उसके तत्संबंधित भाव-विचार और अन्ततः वह यथार्थ जिसको प्रस्तुत किया गया है - उन सबका वैज्ञानिक चित्र उपस्थित करते हुए यह देखना ज़रूरी हो जाता है कि उसके साहित्य का मूल स्रोत क्या है; उसकी क्षमताओं का मूल उद्‌गम क्या है तथा उसकी सीमाएँ किन मूल कारणों से निष्पन्न हुई है।"[1] इससे सिद्ध होता है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्य से जुडे सभी पक्षों की सामाजिक भूमिका का मूल्यांकन होता है।

रचनाकार जिस समाज में जीता है उसके यथार्थ का अनुभव वह अनेक रूपों में करता है। इन अनुभवों में से कुछ अनुभवों को लेखक अपनाता है और कुछ को छोड़ देता है। चुने हुए अनुभवों को रचना में विशिष्ट बोध बनाकर प्रस्तुत करता है। इस चुनाव की प्रक्रिया में वह यह देखता है कि सामाजिक यथार्थ का कौन सा पक्ष अधिक उपयोगी है। इतिहास प्रक्रिया की समझ के अभाव में लेखक इस उपयोगी पक्ष का चयन नहीं कर सकता। इतिहास प्रक्रिया की समझ से ही समाज से साहित्य के बदलते संबंध की पहचान संभव है। मात्र सामाजिक दृष्टि समकालिक संबंध तक सीमित हो जाती है और अनुभववाद का शिकार

---

1. नेमिचंद्र जैन (सं) मुक्तिबोध रचनावली-4, 1980 पृ. 229

हो जाती है। इसलिए साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साम। दृष्टि के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि का भी मूल्यांकन करना है। विश्वम्भरदयाल गुप्ता के अनुसार "साहित्य के अध्येता का लक्ष्य कृति में विद्यमान उन मानसिक संरचनाओं को खोज निकालना है जो लेखक की कल्पना के साथ संगठित होकर कृति में प्रतिबिम्बित हुई हैं, साथ ही उन संरचनाओं की ऐतिहासिक निर्मिति और प्रक्रिया का विश्लेषण भी अपेक्षित है।"[1] साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में रचना के स्वरूप के अनुसार उसके स्त्रोतों और प्रभावों पर प्रकाश डालता है। मुक्तिबोध ने ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति के व्यावहारिक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है - "किसी भी साहित्य को तीन प्रकार से देखा जाना चाहिए। एक तो, वह किन स्त्रोतों से उद्गत होता है। अर्थात् किन वास्तविकताओं के परिणाम स्वरूप वह साहित्य उत्पन्न हुआ है। दूसरे, उसका फलात्मक प्रभाव क्या है; और तीसरे उसकी अंतः प्रक्रिया - रूपरचना कैसी है। इस तीसरे प्रश्न को बिना पहले प्रश्न से मिलाये हम दूसरे सवाल का जवाब ही नहीं दे सकते।"[2] इसप्रकार के अध्ययन से हम सामाजिक वास्तविकता को अपनी संपूर्णता में समझ सकते हैं।

प्रत्येक साहित्यिक विधा के स्वरूप के अनुसार समाजशास्त्रीय पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। तभी रचना की सार्थकता का समुचित

---

1. विश्वम्भरदयाल गुप्ता - साहित्य का समाजशास्त्र अवधारणा, सिद्धांत एवं पद्धति, 1982 पृ. 27
2. नेमिचंद्र जैन (सं) मुक्तिबोध रचनावली-4, 1980 पृ. 229

विश्लेषण संभव होगा। अतः उपन्यास के समाजशास्त्रीय अध्ययन से कविता का समाजशास्त्रीय अध्ययन भिन्न होगा। कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन से नाटक का समाजशास्त्रीय अध्ययन भिन्न होगा। समाजशास्त्रीय अध्ययन में कृति के विधागत अंतर के अलावा उसके स्वरूप पर भी ध्यान देना ज़रूरी है। वह इसलिए कि समाजशास्त्रीय विवेचन की दृष्टि एक होने पर भी रचना के स्वरूप के अनुसार विवेचन पद्धति में अंतर होगा। एक यथार्थवादी कृति का विवेचन जिस ढंग से करता है उसी ढंग से मनोवैज्ञानिक या स्वच्छंदतावादी कृति का नहीं कर सकता। दोनों का अपना-अपना स्वरूप है। स्वरूप की इस भिन्नता को हम अनदेखा नहीं कर सकते। यथार्थ के प्रति अपनाये जानेवाली दृष्टि के अनुसार ही कृति अपना स्वरूप ग्रहण करती है। प्रायः रचनाकार जीवन की कोई घटना, मनोभाव, व्यक्ति वैशिष्ट्य आदि का चित्रण रचना में करता है। जीवन की किसी घटना का चित्रण करते समय लेखक उसका संबंध प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ सकता है। लेकिन मनोभावों का चित्रण करते समय लेखक कभी यथार्थ के साथ सीधा संबंध नहीं जोड़ता। इसके बदले वह अपने पात्रों के ज़रिए यथार्थ के प्रति अपनाये जानेवाली प्रतिक्रिया का आविष्कार करता है। तब यथार्थ पृष्ठभूमि में रहता है। फलतः दोनों के रचनागत स्वरूप में बहुत अंतर आता है। इन भिन्न स्वरूपवाली रचनाओं को हम एक ही यथार्थवादी दृष्टि से नहीं आँक सकते। मुक्तिबोध के अनुसार - "साहित्य दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें युग प्रवृत्तियों से संचालित-नियंत्रित होते हुए भी साहित्यकार सचेत

रूप से उन प्रवृत्तियों को ग्रहण नहीं करता। इसका फल यह होता है कि वह साहित्य अपने में उन प्रवृत्तियों का विकृत असंस्कृत प्रतिबिंब ही लिए रहता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि उसमें उन युग प्रवृत्तियों के वास्तविक अभिप्राय, गर्भितार्थ तथा उनके निर्माण कार्य अथवा विनाशकार्य आशय आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाता है और वर्तमान के पार मानव भविष्य को निहारा जाता है।"[1] उपर्युक्त उद्धरण इस बात पर बल देता है कि रचना के स्वरूप के अनुसार समाजशास्त्रीय विवेचन में अंतर होता है।

लेखक सामाजिक यथार्थ से प्राप्त अनुभवों को आधार बनाकर रचना करता है। रचना में इन अनुभवों का यथातथ्य विवरण नहीं बल्कि उसका पुनः सृजन होता है। वास्तविक जीवन और पुनर्रचित जीवन एक नहीं है। दोनों में अंतर है। इसलिए साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में पुनर्रचना करनेवाली दृष्टि के स्वरूप पर भी विचार किया जाता है। कभी-कभी लेखक एक गंभीर समस्या को यथार्थ दृष्टि से देखने के बजाय उसके प्रति भाववादी दृष्टि अपनाता है। यथार्थ के प्रति भाववादी दृष्टि अपनाने में कोई आपत्ति नहीं, लेकिन कभी-कभी ये भाववादी दृष्टि यथार्थ को अपनी संपूर्णता में प्रस्तुत नहीं कर पाती। उसमें सामाजिक यथार्थ को प्रमुखता नहीं मिलती और रचना सिर्फ भावप्रदर्शन की सामग्री बनकर रह जाती है। मुक्तिबोध के अनुसार "साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक

---

1. नेमिचंद्र जैन (सं) मुक्तिबोध रचनावली-4, 1980 - पृ. 226

कल्पना द्‌वारा जीवन की पुनर्रचना करता है। जीवन की यह पुनर्रच॰ कलाकृति बनती है। कला में जीवन की पुनर्रचना होती है। वह सारतः उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है कि जो जीवन इस जगत में वस्तुतः जिया और भोगा जाता है - स्वयं द्‌वारा तथा अन्यों द्‌वारा। यह जीवन जब कल्पना द्‌वारा पुनर्रचित होता है तब उस पुनर्रचित जीवन में तथा वास्तविक जगत क्षेत्र में जिये और भोगे जानेवाले जीवन में गुणात्मक अंतर उत्पन्न हो जाता है। पुनर्रचित जीवन, जिए और भोगे हुए जीवन से सारतः एक होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न होता है।"[1] इसलिए साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में आलोचक देखता है कि रचनाकार ने किस दृष्टि से उस यथार्थ को देखा है? वह दृष्टि उस यथार्थ को आत्मसात करने में कहाँ तक उपर्युक्त है? और साथ ही यह भी देखता है कि उसका प्रभाव क्या हो सकता है?

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में, जैसे पहले उल्लेख किया गया है, रचना में चित्रित जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति की परख के लिए रचना के शिल्प और रचनाकार के दृष्टिकोण पर विचार किया जाता है। प्रायः रचना में शिल्प और दृष्टि में एकता होती है। किंतु कभी तो भिन्नता भी देखी जाती है। अर्थात् यथार्थवादी शिल्प में भी भाववादी दृष्टि और भाववादी शिल्प में भी यथार्थवादी दृष्टि देखी जाती है। मुक्तिबोध के अनुसार - "यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर है। यह

---

1. नेमिचंद्रजैन (सं) - मुक्तिबोध रचनावली-4, 1980 - पृ. 218

बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत, जो भाववादी शिल्प है - उसके अंतर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो। कवि के जीवन ज्ञान के स्तर पर और कवि व्यक्तित्व का अनुभव संपन्नता के स्तर पर, उसकी दृष्टि पर यह निर्भर है कि वह कहाँ तक वास्तविक जीवन-जगत् को उसके सारे वास्तविक संबंधों के साथ ग्रहण कर उसे वस्तुतः समझता है। संक्षेप में कला के शिल्प और उसकी आत्मा में अंतर करना होगा।"[1] अतः साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में रचना के शिल्प और दृष्टि की अन्विति पर भी ध्यान रखा जाता है। अगर इनमें भिन्नता हो तो उसके विरोधात्मक अवस्था एवं उसके द्वारा संप्रेषित संवेदना की परख ज़रूरी है।

साहित्य में नये-नये प्रयोग होते रहते हैं। साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में इन प्रयोगों की सार्थकता की जाँच करने के लिए यह देखता है कि वे किस सीमा तक नये सामाजिक परिवर्तनों से प्रेरित हैं? साहित्य के समाजशास्त्री साहित्य के विशिष्ट स्वरूप की उपेक्षा नहीं करते। बल्कि वह उसकी अंतर्वस्तु, संरचना और प्रयोजन को देखता है। मानेजर पाण्डे के अनुसार "वह (साहित्य का समाजशास्त्री) यह देखने की कोशिश करता है कि सर्जनात्मक साहित्य के निर्माण में समाज की क्या भूमिका होती है और रचना की जडें समाज में कितनी समायी होती हैं, किसी रचना में युग की प्रभावशाली विचारधारा का रचना की अंतर्वस्तु और

---

1. नेमिचंद्र जैन (सं) मुक्तिबोध रचनावली-4, 1980 पृ. 219

रूप पर क्या प्रभाव पड़ता है और यह भी कि कोई रचना किस तरह तथा किस सीमा तक अपने समाज को प्रभावित करती है।"[1] अतः कह सकते हैं कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में रचनागत नवीनताओं का मूल्यांकन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर करता है।

साहित्य में समाज की खोज की एक और दिशा है। साहित्य रचना का समूचा व्यवहार कल्पना पर आधारित है। मानेजर पाण्डे के अनुसार - "जीवन - जगत के बोध, यथार्थ की चेतना, चरित्रों के निर्माण, भावों-विचारों की व्यंजना के तरीकों की खोज और रूपशिल्प आदि के आविष्कार से लेकर भाषा की भंगिमाओं का विकास तक सब कुछ कल्पना की मदद से ही होता है।"[2] इसलिए साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्यिक कल्पना के सामाजिक अभिप्राय की पहचान ज़रूरी है। कल्पना की क्रियाशीलता विभिन्न विधाओं में एक जैसी नहीं है। उसी प्रकार एक ही विधा की विभिन्न पद्धतियों में भी कल्पना की क्रियाशीलता में भिन्नता होती है। प्रातिनिधिक पद्धति, प्रतीकात्मक पद्धति, प्रतीक, बिंब, फैण्टेसी आदि में कल्पना के रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। रचनाकार कल्पना की मदद से दूसरों के अनुभव जगत में प्रवेश करता है। यह कृति का आधार बनता है और कृति के माध्यम से पाठकों को अपने अनुभव का सहयोगी बनाता है। कल्पना की क्रियाशीलता के अध्ययन से उसमें निहित सामाजिक वास्तविकता और व्यंजना की शक्ति स्पष्ट हो जाती है। मानेजर

---

1. मानेजर पाण्डे साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, 1989 पृ. 13
2. वहीं पृ. 17

पाण्डे के अनुसार "साहित्य के समाजशास्त्र में साहित्य के ज्ञानात्मक के विश्लेषण के लिए कल्पना की इन भूमिकाओं की समझ ज़रूरी है। तभी सामाजिक यथार्थ के बोध और व्यंजना की शक्ति के रूप में कल्पना की क्रियाशीलता की पहचान होगी और उसकी स्वतंत्रता का भी महत्व सामने आएगा। स्वतंत्रता, विरोध और आलोचना की शक्ति के रूप में कल्पना की गतिविधि का विवेचन साहित्य के समाजशास्त्र को अधिक समृद्ध बनाएगा। कभी-कभी कल्पना एक वैकल्पिक लोक और व्यवस्था का निर्माण करती हुई समकालीन समाज-व्यवस्था का विरोध करती है। कल्पना की यह भूमिका भी साहित्य के समाजशास्त्र में विचारणीय है।"[1] अतः साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में साहित्यिक कल्पना की सामाजिक अंतर्दृष्टि की खोज की जाती है।

साहित्य की समाजशास्त्रीय दृष्टि ने रचना के स्वायत्त तंत्र को स्वीकारा है। लेकिन उसका रूप साहित्यवादियों से इसप्रकार भिन्न है कि वह कला के स्वायत्त संसार को जीवन निरपेक्ष या समाज निरपेक्ष नहीं मानता। वास्तव में कला का स्वायत्त संसार जीवन निरपेक्ष हो ही नहीं सकता। इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र में कृति के सौंदर्य को बाहरी रूपविधान तक सीमित वस्तु नहीं मानता। उसे आंतरिक मानता है और साहित्य की सौन्दर्यानुभूति के मूल में मानव संबंध, विश्वदृष्टि और जीवनमूल्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है। मुक्तिबोध के अनुसार -

---

1. मानेजर पाण्डे आलोचना की सामाजिकता, 2005 पृ. 86

"सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की निधि नहीं है। वह वास्तविक जीवन में, वास्तविक भावना और कल्पना का उच्चतर स्तर पर ऐसा एकाएक उत्स्फूर्त और विकसित विस्तार है, जिसमें मनुष्य की व्यक्तिसत्ता का विलोपन हो जाता है। ....यह सौंदर्यानुभूति मानव संबंधों पर प्रभाव डालती है, उसे नयी सार्थकता प्रदान करती है। अतएव सौंदर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्य क्षमता से उसका पूरा और सीधा संबंध है।"[1] समय के अनुसार सौंदर्य के मान बदलने पर भी जिन रचनाओं में मानव संबंध, विश्व दृष्टि और जीवन मूल्य अपने उत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुए हैं उन्हें हम आत्मसात करते हैं और उनसे प्रेरणा ग्रहण कर अपने युग की सर्वश्रेष्ठ सौंदर्याभिरुचि जागृत करते हैं। साहित्य की समाजशास्त्रीय दृष्टि द्वारा विकसित सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणाओं के संबंध में शिवकुमार मिश्र ने लिखा है -

कुल मिलाकर, विकास के एक लंबे और कठिन दौर से गुज़रते हुए साहित्य विश्लेषण की यह समाजशास्त्रीय दृष्टि आज एक भरे-पूरे सौंदर्यशास्त्र में रूपायित हो चुकी है, जो परंपरागत तथा समकालीन दूसरी सौंदर्यशास्त्र अवधारणाओं से इस माने में विशिष्ट है कि उसमें इतिहास-बोध तथा समाज-बोध के साथ, जिसे साहित्य की कलात्मक सत्ता कहते हैं, उसकी भी खरी पहचान है, और इन दृष्टियों की संश्लिष्ट संस्थिति के बल पर ही जो रचना, आस्वाद और मूल्यांकन, तीनों धरातलों पर साहित्य-विश्लेषण के संदर्भ में अपनी अपरिहार्यता सिद्ध करता है, और जिसकी

---

1 नेमिचंद्र जैन (सं) मुक्तिबोध रचनावली-5, 1980 पृ. 162-163

सबसे अहम उपलब्धि यह है कि उसमें जीवन-मूल्यों और कल.
बीच की खाई को पाट दिया गया है।"[1] इससे सिद्ध होता है कि ााहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में कला मूल्य हो या सौन्दर्य मूल्य हो, वह जीवन निरपेक्ष नही है।

पाठक के बीच साहित्य

साहित्य के समाजशास्त्र में साहित्य उपभोग पर भी ध्यान दिया जाता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री लिये लावेन्थल के अनुसार - "A sociologist with literary interest and analytical experience in the field of belles letters must not be satisfied merely to interpret literary materials which are sociological by definition; his task is also to study the social implications of literary themes and motives which are remote from public or publicly relevant affairs."[2]

पाठक और साहित्य के संबंध पर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है। एक साहित्य के स्वरूप के विकास में पाठक वर्ग की भूमिका और दूसरा है पाठकीय अभिरुचि या चेतना के विकास में साहित्य की भूमिका। साहित्य के स्वरूप निर्धारण में पाठक (समाज) की भूमिका की चर्चा समाज में साहित्य के संदर्भ में विचारणीय है। दूसरे पक्ष में लेखक

---

1. शिवकुमार मिश्र - साहित्य और सामाजिक संदर्भ, 1977 पृ. 27-28
2. Leo Lawenthel Literature and mass culture - communication in society, Volume-I, 1984 - p. 3

किस तरह पाठकों की चेतना को विकसित बनाता है, किस तरह उसकी संवेदनशीलता को परिष्कृत कराता है, रचना समाज और जीवन के बारे में किस तरह की दृष्टि देती है आदि का अध्ययन किया जाता है।

साहित्य की आलोचना का मुख्य उद्देश्य है कृति की बेहतर व्याख्या करना। रचना की सामाजिकता या उसकी साहित्यिकता की खोज मात्र करने से कृति की बेहतर व्याख्या संभव नहीं है। उसकेलिए रचना की साहित्यिकता और सामाजिकता के बीच अंतरंग संबंध की पहचान करा देना ज़रूरी है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय आलोचना कृति की बेहतर आलोचना पद्धति है। क्योंकि इसमें रचना की साहित्यिकता को उसकी सामाजिकता से अलग न मानकर, रचना के भीतर प्रवेश करके, रचना की समाज सापेक्षता की परख की जाती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय आलोचना वास्तव में एक सांस्कृतिक कर्म है। क्योंकि यहाँ साहित्य विवेक को जीवन विवेक से जोड़ा जाता है।

कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन

समाजशास्त्र की दृष्टि से देखें तो कोई भी साहित्यिक विधा एक साहित्यिक उत्पाद्य हो जाती है। उस उत्पाद्य में सामाजिक विषय कितनी गहराई से और कितनी गंभीरता से प्रक्षेपित होते हैं यही मुख्य है। तदनन्तर सामाजिक विषयों के विवेचन के संदर्भ में उनसे जुडे कई मुद्दे विचारणीय होते हैं। प्रश्न यह उठ सकता है कि इस संदर्भ में कहानी कहीं

गुम हो गयी। समाजशास्त्रीय अध्ययन का महत्व यह नहीं है कि साहित्यिक रचना को कहीं गुम कर दिया जाय। कहानी जो कि एक साहित्यिक उत्पाद्य ही है, उसे भूत, वर्तमान और भविष्य के बहुलार्थी संदर्भ में परखना आवश्यक है। ऐसे अवसरों पर कहानी के बाहर के कई विषयों पर हमें विचार करना ही पड़ता है। इस प्रकरण में अन्य अनुशासन भी हमारे लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यदि एक कहानी शोषण पर केंद्रित है और अगर वह सचमुच गंभीर किस्म की रचना है तो वह शोषण तक ही सीमित एक सामाजिक रचना नहीं है। कारण यह है कि शोषण का एक इतिहास है। उसके कई रूप भी हैं। यह भी हमें देखना पड़ता है कि अपनी तमाम प्रगतिशीलताओं के बावजूद क्या हमारा यथार्थ है? शोषण के तंत्र से मुक्त है? इस तरह समय की एक सुदीर्घ अवधि उक्त कहानी के विश्लेषण के दौरान पुनःर्विश्लेषित होती है। इसमें हमारे समाज की अलग-अलग प्रकार की मानसिकताओं का विश्लेषण भी अनिवार्य हो जाता है। इस तरह कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन अपने आप में मनुष्य की संस्कृति के, उसके इतिहासबोध के, उसकी उन्मुखताओं की सम एवं विषम स्थितियों के सरोकारों का एक बहुलार्थी दस्तावेज हो जाता है।

यह सर्वविदित बात है कि कहानी का आकार लघु ही रहता है। कभी-कभी कुछ कहानियाँ पर्याप्त लंबी हुआ करती हैं। लेकिन उन्हें हम उपन्यास की कोटि में नहीं रखते हैं। अतः कहानी की आकार संक्षिप्तता यदि उसकी कलात्मक शिखरता के लिए प्रमाण है तो उसी अनुपात में वही उसके सामाजिक सरोकार के प्रमाण भी हो जाते हैं। समाजशास्त्रीय

अध्ययन में कहानी में प्रकटित सांकेतिक प्रकरणों को लेकर अक्सर पाठक या समीक्षक उसे काफी दूर तक ले जाया जा सकता है। यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि हम अपनी इच्छापूर्ती का आरोप कहानी पर नहीं कर रहे हैं। जब तक कहानी में वह रचनात्मक संभावना नहीं है तब तक हम उस पर अपने बोझीले विचारों को रख नहीं सकते।

समाजशास्त्र, जैसे इसके पहले ही संकेतित है, साहित्य से भिन्न एक स्वतंत्र अनुशासन है। उसका अवलम्ब इसीलिए लिया जाता है ताकि हम अपनी विवेच्य रचनाओं को गंभीर बना सके। एक तरह से रचना के अध्ययन को सांस्कृतिक पुनर्पाठ के रूप में तब्दील कर सके। भक्तिकाव्य पर विचार करनेवाले आलोचकों ने भक्ति पर भी लिखा, दर्शन पर भी लिखा, साथ ही साथ भक्ति की लोकधर्मिता पर भी लिखा। भक्ति के लोकधर्म पर जितने आलोचकों ने विचार व्यक्त किया है उनकी आलोचनात्मक दृष्टि में हम समाजशास्त्रीय उन्मुखता का आभास अनुभव कर सकते हैं। यहाँ यह प्रश्न अनिवार्य है कि भक्ति के लिए लोकपक्ष क्यों उठा लिया है? अतः कहा जा सकता है कहानी का सचमुच आस्वादन यदि हमें करना है तो कहानी में उपलब्ध सांकेतिकता के सहारे उसकी अंतर्वस्तु की सीमा को पार कर हमें जाना ही पड़ता है। यह हमारी क्षमता भी है तथा कहानी की भी क्षमता है।

कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन के अंतर्गत प्रथमतः विचारणीय पक्ष है विषय स्वीकृति और तद् विषयक विश्लेषण। संभवतः कहानी में

उसका एक पुनर्सृजित पक्ष ही मिलता है। कहानीकार की विषय स्वीकृति के आधार पर यह तय किया जा सकता है कि इस विवेच्य कहानीकार को समाजशास्त्र के संदर्भ में हमें किस प्रकार लेना है। दरअसल विषय स्वीकृति रचनाकार सापेक्षित स्थिति है। लेकिन उसका अपना अलग समाजशास्त्रीय महत्व है। राजनीतिक गतिविधियों और उनकी विभिन्न विसंगतियों पर कई कहानीकारों ने कई कहानियाँ लिखी हैं। इस विषय स्वीकृति को समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए लिया जा सकता है। ऐसे में राजनीतिक विसंगतियों के साथ विचारणीय जितने भी मुद्दे हैं वे सब मूल्यांकित होते हैं। इन सब के आधार पर ही इस विषय स्वीकृति को लिया जा सकता है। राजनीतिक गतिविधियों से युक्त कहानी का संबंध सिर्फ राजनीति तक सीमित नहीं रहती। धर्म, वर्ग, अधिकार, उपनिवेशवाद, मूल्य आदि कई मुद्दे इससे जुड़कर आते हैं। रचना में ये मुद्दे अपने परिवर्तित एवं व्यापक रूप के साथ कहाँ तक उतर पाये हैं, इन मुद्दों के अंतः संबंध को किस प्रकार अभिव्यक्त किया है आदि उस विषय स्वीकृति के महत्व को निर्धारित करता है।

कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए स्वीकृत विषय का संबंध सीधा समाज से हो यह ज़रूरी नहीं है। असामाजिक या व्यक्तिवादी कहे जानेवाली कहानियों का भी समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। कोई भी कहानी को भला कितना ही असामाजिक क्यों न कहा जाय, किसी न किसी प्रकार उसका संबंध समाज से होता है। किसी भी असामाजिक कही जानेवाली अवस्था समाज से निरपेक्ष नहीं। वह किसी

न किसी सामाजिक विसंगति का ही परिणाम है। प्रत्येक हालात में अमुख व्यक्ति अमुख व्यवहार क्यों करता है? अमुख व्यक्ति में व्यक्तिवादी कही जानेवाली धारणा क्यों पैदा हुई? आदि सवालों से हम उस कहानी के पात्र और घटनाओं के ज़रिये सामाजिक प्रक्रिया का विश्लेषण कर सकते हैं। इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि साहित्य का समाजशास्त्र व्यक्ति के अनुभव को नहीं बल्कि अनुभव के तात्पर्य को घोषित करता है।

कहानी में चित्रित यथार्थ के स्रोत की खोज को मात्र रचना तक सीमित नहीं रख सकते। यथार्थ का स्रोत सिर्फ रचना तक सिमट जाए तो हमें रचना में उल्लिखित हर लेखकीय बात को प्रामाणिक मानना होगा। इसलिए कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में यथार्थ के स्रोत की खोज के लिए कहानी में चित्रित यथार्थ तक सीमित न रहकर कहानीकार के व्यक्तित्व को प्रभावित करनेवाली परिस्थितियाँ, यथार्थ संबंधी लेखकीय भाव-विचार, और यथार्थ को प्रस्तुत करने की उसकी पद्धति का विश्लेषण करता है। रचनाकार कई सामाजिक परिस्थितियाँ, व्यक्तियों और घटनाओं से प्रभावित होता है। कहानीकार को किन-किन परिस्थितियों ने प्रभावित किया, किन-किन से उन्हें प्रेरणा मिली आदि का अध्ययन हम नहीं करते। क्योंकि इस तरह का अध्ययन कहानीकार को समझने के लिए ज़रूरी है पर कहानी के अध्ययन के लिए आवश्यक नहीं। कहानी के संदर्भ में हम देखते हैं कि कहानी के भाव-शिल्प गढ़ने के लिए, उसमें प्रस्तुत अनुभव की गहराई को बढ़ाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति, या घटना कहाँ तक योगदान दिया है, यही महत्वपूर्ण है। पर ध्यान रहें कहानी में चित्रित कोई घटना या

पात्र का लेखकीय जीवन से संबंध स्थापित करना मात्र आलोचक का उद्देश्य नहीं। वह उसकी आलोचना का एक प्रारंभिक बिंदु मात्र है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कहानी में चित्रित घटना में कहानीकार के जीवन की समानता को देखकर उस पर आत्मनिष्ठता का आरोप लगाया जाता है। कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में रचना की आत्मनिष्ठता की जाँच तो करती है। लेकिन इस आत्मनिष्ठता की खोज का आधार है प्रतिपाद्य की ओर अपनानेवाली रवैया एवं प्रतिपाद्य से व्यक्त मनोभाव।

प्रत्येक कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में कहानी में चित्रित यथार्थ संबंधी भाव-विचार भी विचारणीय है। लेखक किसी भाव या विचारधारा से प्रभावित होकर रचना करता है। लेकिन कहानी के विकास के साथ-साथ वह अपनी वैयक्तिक विचारधारा को निर्ममता से त्यागकर संवेदनात्मक उद्देश्य को आगे बढ़ाता है। यह एक अच्छे लेखन का लक्ष्ण है। कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में लेखकीय विचारधारा की जानकारी ज़रूरी है। क्योंकि कभी-कभी विचारधारा कहानी की संवेदना को कुंठित कर देता है और कहानी में उल्लिखित समस्या को एवं उसके समाधान को लेखकीय विचारधारा के अनुसार मोड़ देता है। उदाहरण के लिए प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियों को ही ले लीजिए। उसमें पात्रों के हृदयपरिवर्तन के द्वारा समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है। यह समस्या का व्यक्ति विशेष पर केंद्रित समाधान है। समस्या का व्यक्ति केंद्रित समाधान गाँधीवाद की देन है। प्रेमचंद पर इसका प्रभाव पड़ा था। इसलिए प्रेमचंद ने व्यक्ति चेतना को परिवर्तित करके सामाजिक अस्तित्व

में बदलाव लाना चाहा। इसलिए लेखक ने वर्ग विभाजन पर आधारित कई गंभीर समस्याओं का समाधान व्यक्ति विशेष के संदर्भ में प्रस्तुत किया। लेकिन सामाजिक अस्तित्व के अंतर्विरोध की समस्या का समाधान व्यक्ति चेतना के बदलाव के द्‌वारा संभव नहीं। क्योंकि सामाजिक अस्तित्व खुद व्यक्ति चेतना को निर्धारित करता है। यहाँ प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियों के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि लेखक ने सामाजिक अस्तित्व पर आधारित अंतर्विरोधों का चित्रण तो किया, पर उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए उन्होंने एक विकसित संवेदना को अपनी विचारधारा के अनुसार मोड़ दिया। इसलिए कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में लेखक की तद्‌विषयक विचारधारा एवं उस विचारधारा की विकसित संवेदना के साथ का संबंध भी विचारणीय है। कभी-कभी लेखकीय विचारधारा संवेदना के साथ मिलकर कहानी की संवेदना और अनुभव को और अधिक गहराता है। इस संदर्भ में आलोचक यह देखता है कि संवेदना के विकास के लिए लेखकीय विचारधारा कहाँ तक अपना योगदान दिया है। इस संदर्भ में ध्यान देनेवाली एक बात यह है कि कहानी में चित्रित संवेदना और लेखकीय विचारधारा में कभी-कभी विरोध भी देख सकते हैं। इसलिए लेखकीय विचारधारा और संवेदना के अंतर्संबंध को परखने की सबसे प्रामाणिक कसौटी लेखकीय वक्तव्य नहीं है कहानी ही है।

यथार्थ को देखने की दृष्टि वैविध्य के अनुसार उस यथार्थ के रूपों में भी विविधता आ जाती है। कहानीकार अपनी चेतना के अनुसार यथार्थ को देखता है और उसे कलात्मक रूप देता है। अर्थात् कलात्मक

रूप का संबंध लेखक की चेतना और उस चेतना से निर्मित यथार्थ के रूप के साथ है। इसलिए समाजशास्त्रीय अध्ययन में किसी रचना की सामाजिकता की खोज करते समय यथार्थ को प्रस्तुत करने की पद्धतियों पर भी विचार करते हैं। उदाहरण के लिए प्रेमचंद की कहानियों के विश्लेषण का मापदण्ड अज्ञेय की कहानियों के विश्लेष के मापदण्ड से भिन्न है। एक में यथार्थवादी दृष्टि यथार्थवादी शिल्प में ढलकर आया है तो दूसरे में यह भाववादी शिल्प में। अज्ञेय की कुछ मनोवैज्ञानिक कहानियों में यथार्थ पृष्ठभूमि में है। प्रत्यक्ष रूप में वह उस यथार्थ से बनी कुछ मानसिक अवस्थाओं का अंकन है। इसलिए प्रेमचंद और अज्ञेय की कहानियों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में दोनों की कहानियों में व्यक्त सामाजिक वास्तविकता, जीवन के अनुभवों के प्रति दोनों के दृष्टिकोण, उन दृष्टिकोणों की कहानियों में अभिव्यक्ति, उनका कलागत अंतर आदि को ध्यान में रखकर ही उनकी कहानियों के साथ न्याय कर सकता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में कहानी का अपना स्वायत्त संसार कभी भी उपेक्षित नहीं रहता। इसलिए जीवन के संदर्भ में कहानी के स्वायत्त संसार का विश्लेषण होता है।

कहानी में लेखक की सामाजिक दृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। कहानी में संवेदित इस सामाजिक दृष्टि का मूल्यांकन हम ऐतिहासिक दृष्टि की कसौटी पर करते हैं। इसमें हम देखते हैं कि कहानी में जिस समस्या का चित्रण किया गया है उसका स्रोत कहाँ है? उदाहरण के लिए नारी समस्या का चित्रण करनेवाली कहानी को लीजिए। इस समस्या के

कारणों की खोज हम तत्कालीन समाज में सीमित रहकर नहीं कर सकते। इसकी जड़ें तो हमारे इतिहास में है। इतिहास के पुरुषसत्तात्मक वर्चस्व एवं उससे जुड़ी मानसिकता इसके मूल में है। कहानी इतिहास की इन विकृतावस्था के परिवर्तित एवं व्याप्त रूपों का संकेत अपनी अंतर्वस्तु, रूपरचना, भाषा, शिल्प, बिंब आदि के माध्यम से देती है। इनके ज़रिए हम समस्या के मूल कारण तक पहूँचते हैं और साथ ही उसके खिलाफ सशक्त विकल्प प्रस्तुत करते हैं। कहानी में इतिहास दृष्टि के अभाव में प्रस्तुत होनेवाली सामाजिक दृष्टि कहानी को मात्र अनुभववाद का साक्षी बना देता है। इसलिए कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में इतिहास दृष्टि को एक मुख्य मुद्दे के रूप में उठाता है।

कहानी में मूल्यों की अभिव्यक्ति के कई उद्देश्य है। कभी यह व्यवस्था के प्रतिरोध के लिए उठाये जाते हैं और कभी व्यवस्था के निर्माण के लिए। कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में इन मूल्यों का परीक्षण ज़रूरी है। इसकेलिए हम कहानी में चित्रित सामाजिक व्यवस्था तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वास्तविक समाज से उसकी तुलना करते हैं। उदाहरण के लिए प्रेमचंद की 'पूस की रात' कहानी में हल्कू की निष्क्रियता को ही ले लीजिए। यह निष्क्रियता वास्तव में कृषि व्यवस्था से जुड़कर प्रकट होनेवाले अत्याचार के प्रति किया गया प्रतिरोध था। यहाँ व्यवस्था और उसके प्रतिरोधी मूल्य तभी पूर्णतः स्पष्ट होता है जब उसका मूल्यांकन वास्तविक सामाजिक परिवेश के संदर्भ में करता है। यहाँ मूल्य को परखने की कसौटी है समाज।

कहानी में संवेदित मूल्य को परखने की एक अन्य कसौटी भी है। हमें कहानी द्वारा प्रक्षेपित मूल्य सही है या छद्म इसकी जाँच भी करनी है। व्यवस्था के अंतर्विरोध के प्रति लोगों में जो निसंगता है उसे तोड़ने के लिए कई कहानीकार व्यवस्था विरोधवाली मूल्य को अपनी कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं। लेकिन किसी दुष्ट व्यक्ति को मारकर या कोई सकारात्मक परंपरागत मूल्य को ध्वस्त करके प्रतिरोधी मूल्य प्रक्षेपित हो रहे हो तो उसका कोई महत्व नहीं। कहानी द्वारा प्रक्षेपित मूल्य की परख का आधार मानवीय संसक्ति है। इसमें मूल्य का निरंतर विकसित होता एक पक्ष देख सकते हैं। मूल्य में निहित मानवीय संसक्ति की खोज कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक मुख्य पक्ष है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि कहानी अपने विशेष अस्तित्व के ज़रिए कई जीवन बोधों का अनुभव कराती है। कहानी में चित्रित ये जीवनबोध ही जीवन को व्यवस्थित बनाती है। कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में इन जीवनबोधों के बनने, प्रक्षेपित होने और प्रभावित करनेवाली प्रक्रियाएँ मूल्यांकित होती है। इस मूल्यांकन के सिलसिले में कहानी की अपनी प्रकृति पर भी ध्यान दिया जाता है। इसलिए कहानी ध्वनित करनेवाले भावलोक और कहानी के सूक्ष्म संकेत भी विचारणीय है।

समकालीन कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन के मुख्य क्षेत्र

सत्तर के दशक से हिंदी कहानी में समकालीन शब्द प्रयुक्त होने लगा। यह एक सामान्य शब्द है। इसका संक्षिप्त विश्लेषण इस संदर्भ में

आवश्यक है। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के अनुसार - "समकाल शब्द यह बताता है कि काल के इस प्रचलित खंड या प्रवाह में मनुष्य की स्थिति क्या है। इसे उलटकर कहें तो कहेंगे कि मनुष्य की वास्तविक स्थिति देखकर या उसे अंकित-चित्रित करके ही हम समकालीनता की अवधारणा को समझ सकते हैं। शर्त यही है कि लेखक आज के मनुष्य (देशकाल-स्थिति) के अंकन में, वस्तुगत रहे, यानि उसके चित्रण की विधि कोई भी हो लेकिन उससे जो मानव बिम्ब उभरता हो, वह वास्तविक जीवन के निकट हो।"[1] इससे पता चलता है कि समकालीन कहानी कोई आन्दोलन नहीं है। यह कहानी की निरंतरता को सूचित करनेवाली कथा प्रवृत्ति का नाम है। यह कहानी के क्षेत्र में प्रयुक्त शब्द मात्र नहीं है, बल्कि उपन्यास, नाटक, कविता आदि के क्षेत्र में भी समकालीन शब्द प्रयुक्त है। इसमें न अपने को प्रतिष्ठित करने की कोशिश है और न पूर्ववर्ती परंपरा से अपने को अलगाने का आग्रह है। एक हद तक समकालीन कहानी पूर्ववर्ती कहानी का ही विस्तार है। गौतम सान्याल के अनुसार "समकालीनता समय, स्वयं और समाज के प्रति एक रचनाकार की प्रश्नरूप प्रतिबद्धता है।"[2] इससे स्पष्ट होता है कि समकालीनता का संबंध एक काल विशेष से नहीं; बल्कि अपने समय की केंद्रीय समस्याओं के साथ है। यह एक अनुस्यूत सर्जनात्मक प्रक्रिया है।

---

1. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय समकालीन कहानी की भूमिका, 1977 पृ. 2
2. गौतम सान्याल कहानी में अनुपस्थित, 1999 पृ. 12

मध्यवर्गीय अंतर्विरोध

आर्थिक स्थिति के आधार पर मानव समाज को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं - उच्चवर्ग, मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग। किसी भी व्यक्ति की वर्गगत उपसभ्यता उसके चरित्र, जीवन मूल्य और समाज को देखने की दृष्टि को प्रभावित करती है। समकालीन कहानी में मध्यवर्ग की इस उपसभ्यता का व्यापक चित्रण हुआ है।

मध्यवर्ग और अर्थ

मध्यवर्गीय व्यक्ति की दृष्टि में जीवन की सफलता भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति में निहित है। उसके मन में हमेशा उच्चवर्ग में पहुँचने की इच्छा है। मध्यवर्गीय व्यक्ति शिक्षा को नौकरी प्राप्ति का साधन मात्र मानता है। वह किसी भी वस्तु को आर्थिक प्रयोजन की दृष्टि से ही देखता है। इसलिए मध्यवर्गी माँ-बाप अपने बच्चों को ज्यादा से ज्यादा पढ़ाते हैं। अपने बच्चों को शिक्षित कराने के उद्देश्य के पीछे उनकी महत्वाकांक्षा की भावना निहित है। इसलिए वे लोग अपने बच्चों के मन में बचपन से ही प्रतिस्पर्धा की भावना भरा देती हैं। कभी-कभी मध्यवर्ग का आर्थिक अभाव शिक्षा प्राप्ति में बाधाएँ उपस्थित कर देता है। शिक्षित व्यक्तियों की संख्या अधिक होने के कारण मध्यवर्ग में बेकारी एक मुख्य समस्या बनकर आती है। भविष्य को लेकर उज्वल सपने देखनेवाला मध्यवर्ग किसी भी रास्ते से सिफारिश से या घूस देकर - अच्छे पद पर पहुँचने की कोशिश करता है। लेकिन कभी घूस आदि देने की आर्थिक क्षमता न

होने के कारण मध्यवर्गीय व्यक्ति नौकरी से वंचित भी होता है। ऐसे हालत में वह निराशा, कुंठा और ग्रंथियों से पीड़ित भी होता है। फिर जीविका के लिए किसी भी नौकरी में प्रवेश करता है। प्रतिभावान होने पर भी, आजीविका जुटाने के इस चक्कर में पड़ने पर, मध्यवर्गीय व्यक्ति आगे नहीं बढ़ पाता। फिर भी उससे महत्वाकांक्षा की इच्छा नहीं छूटती। भविष्य के सुंदर सपने उसे आगे बढ़ाते हैं। मध्यवर्ग की इस महत्वाकांक्षा की भावना के कारण वह 'अर्थ' को ही सब कुछ मान बैठता है। अर्थ के लिए वह कभी नैतिक धारणाओं तक को भी दूर रखने के लिए तैयार होता है।

मध्यवर्ग के चरित्र में आत्माभिमान से युक्त एक पक्ष भी है। गरीबी की दयनीय अवस्थाओं में भी वह दूसरों को इसका आभास तक भी न होने देता। ऐसे हालात में वह एक मुखौटा पहनकर अपनी झूठी शान को बचाता है। अभावों को छिपाने की कोशिश कभी खोखली दिखावटीपन में परिणत होती है। आर्थिक विपन्नता से डूबने की स्थिति में वह भ्रष्टाचार तथा अन्य असामाजिक कार्य करने के लिए विवश होता है। बाद में इसका अपराधबोध उसे सताने लगता है।

मध्यवर्ग की सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था

मध्यवर्गीय सामाजिक संबंध को निर्धारित करने में अर्थ की अहम भूमिका है। मध्यवर्ग का अर्थाभाव उसकी पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था को तोड़ देता है। यह सम्मिलित परिवार का टूटन, अनमेल विवाह, वैधव्य, वेश्यावृत्ति, मदिरापान, चोर बाज़ारी, मार-काट आदि

सामाजिक समस्याओं को जन्म दोता है। मध्यवर्गीय मानसिकता भी सामाजिक संरचना को बिगाड़ने में एक मुख्य भूमिका निभाती है। मध्यवर्ग में उच्चवर्ग के प्रति आकर्षण है। वह हर हाल में अपने को उच्चवर्ग से जोड़ने का प्रयास करता है। इसकेलिए वह उच्चवर्ग की चापलूसी करने के लिए तक तैयार हो जाता है। लेकिन उसके अंतर्मन में उच्चवर्ग के प्रति ईर्ष्या है। साथ ही साथ निम्नवर्ग से वह घृणा करता है। लेकिन एक मुख्य बात यह है कि अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए मध्यवर्ग किसी भी वर्ग के साथ जुड़ने के लिए तैयार होता है। ऐसा मध्यवर्गीय अवसरवादी व्यक्ति दूसरों को सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करता है, जिसपर चढ़कर वह अपना हित साध सकें। मुक्तिबोध के अनुसार - "निस्संदेह इस वर्ग में से बहुतेरे ऐसे हैं जो व्यक्तिगत लाभ की लालसा में औरों की राह में बाधा बनकर स्वयं महत्वपूर्ण हो जाते हैं, या आपेक्षिक ऊँची जगह पर पहुँच जाते हैं।"[1] अतः कह सकते हैं कि मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षा उसे स्वार्थ के दायरे में बाँधता है।

भारतीय मध्यवर्ग धार्मिक रीति-रिवाज़ों में विश्वास रखता है। जीवन की अनिश्चितता उसे धार्मिक अनाचारों से जोड़ता है और उसे धर्म का अंधा विश्वासी बना देता है। धर्म के प्रति मध्यवर्ग का यह अंधा विश्वास सांप्रदायिकता का कारण बनता है। धर्म केंद्रित राजनीति करनेवाले नेता लोग इस अंध भक्ति का नाजायज़ फायदा उठाते हैं।

---

1. नेमिचन्द्र जैन (सं) मुक्तिबोध रचनावली-5, 1980 पृ. 299

राजनीतिक विसंगतियाँ

आज पूरे देश में राजनीति का अमानवीय प्रभाव छाया हुआ है। इस प्रभाव ने शहर, गाँव से लेकर घर, परिवार तक को भी नहीं छोड़ा है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सब उस अमानवीयता के शिकार बनते जा रहे हैं। अब सवाल यह उठता है कि रानीति ने अमानवीयता की पोशाक क्यों पहनी है? राजनीति आज अपनी सेवानीति को भूलकर अधिकारनीति कर केन्द्रित क्यों हो गयी है? अधिकारलिप्सा का उदय इसका प्रमुख कारण है। अधिकारलिप्सा सहयोग को हटाकर संघर्ष को जन्म देती है। वर्चस्व के इस क्षेत्र में अपने अस्तित्व को जमाने एवं विस्तृत करने के लिए किये जानेवाले संघर्ष की पहली शर्त है अमानवीयता। ईमानदार और परिश्रमी आदमी उपर्युक्त राजनीति में टिक नहीं सकता। आज लोगों का आधिपत्य नहीं, बल्कि लोगों पर आधिपत्य हो रहा है। आज़ादी की खिल्ली उठानेवाली इस भ्रष्ट व्यवस्था का खुला विरोध इसलिए नहीं हो रहा है कि यह भ्रष्ट व्यवस्था कभी भी अपना वास्तविक विकृत रूप प्रकट होने नहीं देती। यह भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था जातिवाद, सांप्रदायिकता, साम्राज्यवाद, बाज़ारवाद आदि की आड़ में छिपकर अपना बचाव करता है।

राजनीति और धर्म (सांप्रदायिकता)

धर्म आज एक राजनीतिक सिक्का बन गया है। धर्म को राजनीति से जोडने का तात्पर्य यह है कि धर्म के क्षेत्र में हुए वैज्ञानिक सुधारों से उसे बाहर निकालना। धर्म के क्षेत्र में हुए राजनैतिक हस्तक्षेप ने धर्म को

अपनी प्राचीन गौरवशाली परंपरा से बाहर निकालकर अंधविश्वासों एवं कट्टरवाद की दल-दल में डाल दिया है। इससे धर्म का लक्ष्य राजनैतिक लक्ष्य बन जाता है। परिणामतः मनुष्य अपनी आत्मचेतना एवं कल्पनाशक्ति खोकर एक धार्मिक यंत्र में बदल जाता है। धर्म में राजनीति कैसे घुसती है? नवपुनरुत्थानवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद आदि पुल के ज़रिए धर्म का राजनैतिक इस्तेमाल किया जाता है। धर्म के क्षेत्र में होनेवाली नवपुनरुत्थानवाद वास्तव में धर्म की पाखण्डता की ओर वापसी है। इससे धर्म, जाति और बिरादरियों के नाम पर समाज विभाजित होता है। प्रत्येक धर्म अपने विशाल दृष्टिकोण को त्यागकर अपनी धार्मिक कट्टरता की व्यापन पर अधिक बल देने लगता है। इससे राष्ट्रीय विविधता, मानवीय संवेदना आदि की परिसमाप्ति होती है। शंभूनाथ ने इस संबंध में इसप्रकार लिखा है - "नवपुनरुत्थानवाद के भी वे ही लक्ष्य हैं, जो उत्तर औद्योगिक समाज और भूमण्डलीकरण के राष्ट्रीय विविधता, नैतिक मूल्यबोध और मानवीय संवेदना का पूरी तरह खात्मा।"[1] नवपुनरुत्थानवादी चिंतन का एक अन्य पहलू है सांस्कृतिक राष्ट्रवाद। अपनी सामाजिक बनावट में वह शुद्ध सामंती है। यह शोषण को एक धार्मिक आधार देता है। विशिष्ट अभिजात वर्ग द्वारा शुद्धता एवं श्रेष्ठता की ऐसी बात स्वतंत्रता एवं विचारों की विविधता को पनपानेवाली लोकतांत्रिक व्यवस्था को नष्ट कर देती है। ऐसी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद बहुसंख्यकों की जातीयता को 'राष्ट्रवाद'

---

1. शंभूनाथ धर्म का दुःखांत, 2000 पृ. 139

नाम देता है और अल्पसंख्यक समुदाय के राष्ट्रवाद को संदेह की दृष्टि से देखता है। यह सामाजिक समरसता को तोड़ता है। इससे अशांति फैलती है। यह अशांति व्यक्ति को रूढ़िवाद व कट्टरवाद को अपनाने के लिए विवश बनाता है। आदमी जितना अधिक कट्टर होता है उतना ही अधिक सांप्रदायिक होता है। इस संबंध में नरेन्द्र मोहन ने लिखा है - "सामाजिक समरसता व वास्तविक आनंद से रहित मानव की अशांति अब धीरे-धीरे विक्षिप्तता की ओर बढ़ रही है। यह अशांति ही उसे पाखंड की ओर धकेलती है, कट्टरवाद व रूढ़िवाद को अपनाने के लिए विवश करती है तथा सांप्रदायिक उग्रता को भी महत्व प्रदान करती है। सिद्धांत यह है कि मानव जितना अशांत रहेगा उतना ही वह दुराग्रही होगा तथा धार्मिक क्षेत्र की भाषा में वह उतना ही अधिक सांप्रदायिक होगा।"[1]

सांप्रदायिकता आर्थिक एवं राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति का एक अमानवीय हथियार है। सांप्रदायिकता का बढ़ता प्रभाव फासीवाद को जन्म देता है। यह सांप्रदायिक फासीवाद अंध राष्ट्रवाद के नकाब पहनकर खड़ा हो जाता है। यह अंध राष्ट्रवाद विस्तृत आर्थिक शोषण का द्वार खोल देता है। सांप्रदायिकता को केवल दो धर्मो के आपसी विद्वेष मात्र मान लेने पर इसके दुष्परिणाम के लिए जिम्मेदार बने एक 'विशिष्ट वर्ग' इस दाग से अपना दामन छुडाते हैं। सांप्रदायिकता के संबंध में प्रसिद्ध कहानीकार स्वयं प्रकाश ने इसप्रकार कहा है - "सांप्रदायिकता अधिकार

---

1. नरेन्द्र मोहन धर्म और सांप्रदायिकता, 1996 पृ. 15

चेतना का एक विकृत स्वरूप है और यह केवल हिन्दू मुसलमान का मसला न होकर बहुसंख्यकों की घौंस है जो अल्पसंख्यक समुदाय के नागरिकों को बराबर का इंसान नहीं समझना चाहते।"[1] अतः सांप्रदायिकता को वर्चस्ववादी स्वार्थी शक्तियों द्वारा स्वीकृत शोषण के हथियार के रूप में समझना होगा।

राजनीति और पूँजीवाद

राजनीति आज जनता से प्रेरणा ग्रहण नहीं करती। सत्तालोलुप राजनीतिज्ञ जनता की समस्या से दूर का संबंध भी नहीं रखना चाहते। कौन सत्ता में आता है? किसको अधिकार नष्ट होता है? आदि ही आज की मुख्य राजनीतिक समस्याएँ हैं। इस तरह की शासननीति किसी भी राजनीतिक दर्शन या आदर्श को महत्व नहीं देता है। अधिक से अधिक अर्थलोलुपता ने पुराने आदर्शों को तेज़ी से विघटित किया है। सामाजिक आदर्श आज बिकाऊ चीज़ बन गयी है। देशप्रेम जैसी भावनाओं को आज के राजनीतिज्ञ खुद अपनी पूँजी कमाने का साधन बना रहे हैं। अपनी सुविधा एवं पूँजीपतियों की माँगों के अनुसार वे हमारे देशीय ढाँचे में परिवर्तन करते रहते हैं। देशीयता से जुड़ी भावनाओं को बदलने या बेचने के लिए आज के राजनीतिज्ञ विवश है। आज उसका अस्तित्व ही इस व्यापार के लाभ पर निर्भर है। हमारी राजनीति खुद इतनी लाचार हो गयी है कि वह आदर्शों के सहारे टिक नहीं सकते। उसे चलने के लिए पूँजी

---

1. संतोष शर्मा - सांप्रदायिकता और हमारा दायित्व (रपट), हंस - मई 2002 - पृ. 89

की बैसाखी चाहिए। इसके लिए वह कोई भी गिरी हरकत करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

आज लोगों की संगठित शक्ति क्षीण हो गयी है। जिस जन संगठन के नेता खुद कई पूँजीवादी आकर्षणों में पड़कर जनता की शोषण तक उतर आये हैं तो उस संगठन की सफलता के बारे में क्या कहना है! आज के श्रमिक संगठन की स्थिति इससे भिन्न नहीं है। पहले श्रमिक संगठन पूरे देश की मेहनतकश लोगों की संगठित शक्ति थी। इसकी एक राजनीतिक भूमिका भी थी। लेकिन आज इस संगठन के नेता खुद सत्तामोही बन गये हैं तो ऐसा संगठन अपना लक्ष्य खोकर व्यक्ति केन्द्रित हो गया तो आश्चर्य की बात नहीं। परिणाम राष्ट्रसेवा और राजनीतिक दलसेवा एक दूसरे का विरोधी बन गया।

राजनीति और उपभोक्तवादी संस्कृति

साम्राज्यवाद की अपनी शासन नीति है। पहले की तरह आज साम्राज्यवादी शक्तियाँ प्रत्यक्ष रूप से किसी देश का शासन नहीं हड़पते। बल्कि प्रत्येक देश के अर्थतंत्र पर अपना कब्जा कर लेता है। इसके लिए प्रत्येक देश में एक उपभोक्तावादी संस्कृति का निर्माण कर लिया जाता है। इसके प्रभाव में पड़कर लोग सुविधाभोगी बन जाते हैं। बाद में वह अपनी सुविधाओं को बढ़ाने एवं बनाये रखने के लिए किसी भी मूल्य को बेहिचक तोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति ने हमारी राजनीति को भी ग्रस लिया है। हमारे राजनीतिज्ञ भी इसके गिरफ्त

से मुक्त नहीं हो पाये। एक ज़माने में जिन आदर्शों के लिए वह मर मिटने तक तैयार रहते थे उसे आज वह एक पागलपन समझने लगा है। जिन तत्वों से वह प्रेरणा ग्रहण करते थे उसे वह आज प्रदर्शन की सामग्री मात्र मानते हैं। अपनी फायदे की दृष्टि से ही वह किसी चीज़ या व्यक्ति को महत्व देता है। उदारता, सहानुभूति जैसे मूल्य सिर्फ एक दिखावा मात्र बनकर रह गये। ऐसे सत्ताधारी देश को उच्च साम्राज्यत्व शक्तियों के आगे गिरवी रखने तक को तैयार हो जाते हैं। वैसे आम आदमी भी उपभोक्तावादी संस्कृति की गिरफ्त से मुक्त नहीं है। लेकिन राजनीति का इस संस्कृति के प्रभाव में आकर अपना वजूद खो देना एक व्यापक दुष्परिणाम का कारण बनता है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विसंगतियाँ

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का अभूतपूर्व विकास हुआ। इसके फलस्वरूप हुए भौतिक विकास ने निश्चय ही यहाँ के समाज को प्रगति की राह दिखायी। पर भौतिक विकास और सामाजिक विकास के अनुपात में समानता नज़र नहीं आती है। इसलिए सामाजिक विकास को भौतिक विकास के मानदण्डों के आधार पर आँकना ठीक नहीं है। अतः सच तो यह है कि स्वतंत्रता के पूर्व जो सामाजिक समस्याएँ थी वे आज अपने परिवर्तित किंतु भीषण रूप में आज भी विद्यमान हैं।

समाज का सांस्कृतिक विघटन

संस्कृति समाज की देन है। संस्कृति स्वयं अनेक विचारधाराओं, विश्वासों और ऐतिहासिक अनुभवों से बनती है। इसलिए सांस्कृतिक विघटन सामाजिक विघटन से भिन्न नहीं है। आज सांस्कृतिक विघटन का स्वरूप पहले की तुलना में बहुत जटिल है। कारण यह है कि आज सांस्कृतिक विघटन एक आयोजित रणनीति है। भारत में दर्शित सांस्कृतिक विघटन के पीछे उच्च साम्राज्यवादी शक्तियों का हाथ है। वे सबसे पहले एक विशेष मनस्थिति एवं परिस्थिति का प्रचार उत्तराधुनिकतावाद के नाम से करते हैं। यह उत्तराधुनिकतावादी दर्शन व्यक्ति को अपनी वैचारिकता से अलग करके उसे पाश्चात्य संस्कृति का गुलाम बना देते हैं। इस उत्तराधुनिकतावादी दर्शन ने बाद में उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया। यह उपभोक्तावादी संस्कृति शुद्ध उपयोगितावाद पर आधारित है जो भारतीय संस्कृति के बिल्कुल प्रतिकूल है। आज व्यक्ति न चाहकर भी उस संस्कृति की ओर अनजाने ही आकर्षित होकर धीरे-धीरे उसमें फँसता जाता है। वह चाहकर भी इससे बाहर नहीं निकल पाता। यह संस्कृति व्यक्ति की जड़ों को तोड़कर उसे बेसहारा बनाती है। यह कार्य उसे अपनों से दूर ले जाता है। वह धीरे-धीरे अपने कठोर जीवन यथार्थ से नाता तोड़कर सुविधा संपन्न जीवन से संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। अर्थात् वह अपने कठोर जीवन यथार्थ को बदलने की कोशिश से ज्यादा उससे दूर भागने का प्रयास करता है। किंतु जब उसे कठोर जीवन यथार्थ के सामना करने का वक्त आता है तो व्यक्ति एकदम टूट जाता है। क्योंकि

यह आयात संस्कृति जीवन यथार्थ, अनुभव एवं विश्वास से निर्मित संस्कृति नहीं, बल्कि शोषण के हेतु निर्मित संस्कृति है।

यह आयातित संस्कृति समाज में प्रचलित उदात्त मूल्यों को नकारती है। तब व्यक्ति शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टि का गुलाम बन जाता है। यह व्यक्ति के अंदर की आत्मीय भावना को सुखा देती है। तब व्यक्ति अपनों के बीच भी अकेला महसूस करने लगता है। ऊपर से उसकी उपयोगितावादी दृष्टि स्वार्थता एवं अमानवीयता को पोषित करती है। यह स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था को तोड़ देती है।

समाज और नारी

कानूनी तौर पर स्त्री एवं पुरुष को समाज में समान अधिकार है। किंतु हमारी सामाजिक व्यवस्था ने पुरुष मेधा को हमेशा प्रश्रय दिया है। इस पुरुषवादी वर्चस्व ने नारी को सदियों से गुलाम बनाकर रखा है। देवी, सीता, पृथ्वी आदि विशेषणों से उसे बाँधकर रखा है। आधुनिक युग में भी नारी स्वयं अपने लिए निर्धारित परंपरागत मान्यताओं से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पायी है। साथ ही साथ आज भी सांस्कृतिक शुद्धता के नाम पर औरतों के पहनावे और चाल-चलन पर नियंत्रण करने की कोशिश भी हो रही है।

आज की उपनिवेशवादी संस्कृति नारी के खिलाफ होते हुए भी उसीके समर्थन से ताकत हासिल करती है। इसलिए इस संस्कृति ने नारी समर्थन पर बल दिया। इसके परिणाम स्वरूप यहाँ के पुरुषवादी वर्चस्व अंदर ही अंदर अनुदार होकर भी बाहर उदारता प्रकट करने के लिए

विवश हुआ। पुरुषवादी वर्चस्व के इस उदारता - प्रदर्शन के पीछे मानव मुक्ति की कामना नहीं, बल्कि अपनी मर्दानगी की छवि का बचाव कार्यरत है।

आज नारीवादी आंदोलन ने अपना क्रांतिकारी रूप खो दिया है। कई देशी और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने नारीवादी आंदोलन के इरादों एवं नारों को बड़ी चालाकी से अपनाया और अपनी छवि बढ़ाने का ज़रिया बनाया। इसमें मीडिया का योगदान नगण्य नहीं है। मीडिया एक तरफ औरत का जिस्म बेचता है और दूसरी तरफ भारतीय नारी की छवि के प्रदर्शन पर बल देता है। आधुनिक समाज की नारी की नियति यह है कि आज भी नारी मुक्ति आंदोलन को मानवमुक्ति आंदोलन से जोड़कर देखने के लिए लोग तैयार नहीं हैं। स्वयं नारीवादी आंदोलन ही आज नारी शोषण का द्वार खोल देता है।

समाज और जाति व्यवस्था

भारत के संविधान ने सभी जाति के लोगों को समान अधिकार दिया है। फिर भी जातिगत श्रेष्ठता एवं नीचता की बात आज भी हो रही है। ऐसी स्थिति है कि जातीय अस्मिता के उभार को रोका नहीं जा सका। इतिहास द्वारा बोया गया जातीयता का विष बीज आज भी लोगों के मन में पनप रहा है। यह शिक्षा एवं प्रगति के दावों को विफल बना देता है।

आज जाति शोषण के हाथ का एक सशक्त अमानवीय हथियार है। इसकी मदद से कुछ स्वार्थी शक्तियाँ अल्पसंख्यक लोगों की क्षमताओं को दबाकर उनको समाज की मुख्यधारा से दरकिनार कर देती हैं और

साथ ही उनकी राष्ट्रीयता के आगे प्रश्न चिन्ह लगा देती हैं। वे बहुसंख्यकों की जातीयता को ही राष्ट्रीयता घोषित कर समाज पर अपना एकाधिकार जमाना चाहते हैं। इसप्रकार जातिगत भेद सामाजिक विकास के पथ पर रोड़ा अटकाकर खड़ा है।

विकसित समाज के अविकसित एवं अवसरवादी व्यक्ति

आधुनिक युग में विज्ञान ने मानव को कई पाखण्डताओं से मुक्ति दिलायी। देश को प्रगति की राह दिखाने में विज्ञान का योगदान नगण्य नहीं है। आज हर शिक्षित व्यक्ति विज्ञान एवं वैज्ञानिक चिंतन का समर्थन करता रहता है। लेकिन वास्तविक जीवन में जब इस वैज्ञानिक चिंतन एवं विज्ञान पर आस्था प्रकट करने का समय आता है तो स्थितियाँ पलट जाती हैं। तब विकसित समाज के व्यक्ति की भीतरी अविकसित स्थिति प्रकट होती है। विषम परिस्थिति में व्यक्ति कर्मकाण्डों की ओर इसलिए वापस जाता है कि वह हर हाल में समस्याओं से बचना चाहता है। इसकेलिए वह किसी भी तरीके को अपनाने के लिए तैयार हो जाता है। मनुष्य सुविधाभोगी और अवसरवादी है। ऐसा अविकसित व्यक्ति समाज की विकसित स्थिति के आगे प्रश्न चिन्ह लगा देता है।

कभी-कभी मनुष्य बाहरी तौर पर उदार होकर भी भीतर ही भीतर कट्टरवादी साबित होता है। व्यक्ति का यह कट्टरवाद अपनी अवसरवादिता के कारण कभी प्रकट नहीं होता। व्यक्ति दूसरों से हमदर्दी दिखाकर अपना मतलब निकाल लेता है। मतलब निकालने के बाद दूसरों

से कन्नी काट लेता है और जिस भावना को अपनाकर उसने अपना मतलब निकाला था, उन्हीं भावनाओं का ही अपमान वह कर बैठता है। व्यक्ति की यह अवसरवादी दृष्टि कभी सामाजिक व्यवस्था के संतुलन के विरुद्ध हो जाती है।

व्यवस्था के अंतर्विरोधों के खिलाफ व्यक्ति की निष्क्रियता

आज व्यवस्था के अंतर्विरोधों के खिलाफ व्यक्ति की निष्क्रियता के मुख्यतः तीन कारण माने जा सकते हैं। पहला कारण यह है कि व्यक्ति का भीतरी सामंतवादी अवशेष उसे संघर्ष से दूर रखता है। व्यक्ति की भीतरी नृशंसताएँ जैसे पुरुष श्रेष्ठता का दम्भ, जन्मजात श्रेष्ठता का दम्भ आदि उसे खल नायक बनाते हैं। दूसरा कारण है व्यक्ति की मध्यवर्गीय मनोवृत्ति। इस मनोवृत्ति के कारण व्यक्ति अवसरवाद को स्वीकार कर सकता है, पर विद्रोह को नहीं। तीसरा कारण यह है कि जनसंगठन अपने वास्तविक उद्देश्य भूल चुका है। इसने अपने नारों के पीछे के अर्थ खो दिये हैं। इस सच्चाई की पहचान व्यक्ति को जनसंगठन से दूर ले जाती है। व्यवस्था के अंतर्विरोधों के खिलाफ व्यक्ति की यह निष्क्रियता उसे और भी हाशिए की ओर धकेल देती है। ऐसे में समाज शब्द अपने आप में हास्यास्पद बन जाता है।

समकालीन कहानिकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से समकालीन अवस्थाओं के प्रति अपनी सजगता का परिचय दिया है। इसमें किसी यथार्थ को अपने ढ़ंग से सुरक्षित रखने या व्याख्यायित करने का प्रयास

नहीं हुआ है। समकालीन कहानीकारों ने युग की समस्याओं का वास्तविक चित्र कहानियों में अभिव्यक्त ही नहीं किया है, बल्कि इसके विरुद्ध संघर्ष को एक रचनात्मक आयाम भी प्रदान किया है। समाजशास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर समकालीन कहानी के विषय का विश्लेषण करते समय हमें पता चलता है कि समकालीन कहानी की अपनी कलात्मक चारुता तथा शैल्पिक निष्ठा के बावजूद उसका आंतरिक क्षेत्र हमारे रोज़मर्रा जीवन का व्यापक क्षेत्र ही है। रचनात्मकता के स्तर पर समकालीन कहानी अपनी सौष्ठवता का परिचय देती है। साथ ही समकालीन कहानी हमारे समाज को, हमारी सामाजिक अवस्थाओं और उनकी परोक्ष गतियों को भी आँकती नज़र आती है।

अध्याय - 2

समकालीन कहानी का मध्यवर्ग
समाजशास्त्रीय विश्लेषण

मध्यवर्गीय संस्कृति

भारत के वर्तमान को रचने में मध्यवर्ग का बहुत बड़ा हाथ है। उच्चवर्ग और निम्नवर्ग की तुलना में मध्यवर्ग का दृष्टिकोण सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं को निश्चित करता है। उच्चवर्ग सत्ता और समृद्धि के बल पर किसी भी मूल्य एवं मान्यता का निषेध करता है। निम्नवर्ग भी मूल्यों के नियंत्रण की सीमा से परे है। क्योंकि उसकेलिए जिंदा रहना ही सबसे बड़ा सवाल है। राष्ट्र निर्माण में मध्यवर्ग की भूमिका इन सबसे भिन्न है। आज भारत की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में मध्यवर्गीय आचार, विचार, मूल्य एवं दृष्टिकोण से बनी मध्यवर्गीय संस्कृति का स्पन्दन भरा पड़ा है।

मध्यवर्ग का उदय औपनिवेशिक परिवेश में हुआ था। अंग्रेज़ों ने अपनी ज़रूरतों के लिए विशेषकर बाबूगिरी के लिए इस वर्ग को बनाया था। इनमें से अधिकांश लोग अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति के पुजारी थे। पूरन चंद्र जोशी के अनुसार "यहाँ का मध्यवर्ग या अंग्रेज़ी शिक्षा पाया हुआ वर्ग जो जनता से कटा हुआ था और आधुनिकता के नाम पर रहन-सहन, खान-पान, शिक्षा-दीक्षा और आचार-विचार में पश्चिम का अंधानुकरण करता था।"[1] अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रति मध्यवर्ग की आसक्ति को देखकर

1. पूरन चंद्र जोशी अवधारणाओं का संकट, 1995 पृ. 58

किसी के भी मन में यह सवाल उठ सकता है कि क्या मध्यवर्ग द्वारा अंग्रेज़ों से स्वतंत्रता की माँग लोकतंत्र की स्थापना के लिए था? क्या स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेते समय मध्यवर्ग ने आज़ादी को अपने वास्तविक अर्थ में समझा था? दुर्गा प्रसाद गुप्त ने अपने एक लेख में लिखा है - "भारतीय मध्यवर्ग का हर नये शासक के प्रति भक्ति आसक्ति में ही बदलती दिखाई देती है। इसी कारण पश्चिमी साहित्य, समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन और राजनीति की आधुनिकता और मध्यवर्गीय आत्मकेन्द्रित वैयक्तिक स्वतंत्रता, यहाँ के साहित्य, समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन और राजनीति की आधुनिकता और स्वतंत्रता बन जाती है। तब फिर मध्यवर्ग की ऐसी आधुनिकता, जातीयता और आज़ादी का मर्म कैसे समझे?"[1] इससे स्पष्ट है कि मध्यवर्ग के लिए आज़ादी से तात्पर्य केवल अंग्रेज़ों की अनुपस्थिति थी। आज़ादी के उपरांत स्थापित की जानेवाली समता से इसका कोई वास्ता नहीं था। समता के लिए मध्यवर्ग को खुद की आर्थिक कटौती भी सहनी पड़ती है। वह गरीबों की समस्याओं का समाधान ज़रूरी मानता है तो भी वह अपने आर्थिक हितों को त्यागने के लिए तैयार नहीं था। गरीबों के प्रति सरोकार को निजी प्रतिबद्धता का विषय न मानकर मध्यवर्ग ने राज्य को उनका प्रमुख हितैषी माना। इससे मध्यवर्ग को दोहरा फायदा हुआ। एक है वह बिना अपराधबोध के अपनी ज़िम्मेदारी से कतरा सकता था और दूसरा उन लोगों के ज़रिये अपना फायदा उठा सकता था। इस प्रकार मध्यवर्ग ने निम्नवर्ग को अपने स्वार्थ

---

1. दुर्गाप्रसाद गुप्त आधुनिक मध्यवर्ग और नैतिकता (लेख), हंस, अगस्त 2005 पृ. 77

को छिपाने का आवरण बनाया। फलतः इन दोनों वर्गों के बीच पहले से विद्यमान खाई और बढ़ गयी। गाँधीजी ने इस अलगाव को पहले से ही पहचान लिया था। आज भी यह अलगाव अपने भीषण रूप में यहाँ विद्यमान है। पूरन चंद्र जोशी ने इस अलगाव के संबंध में इसप्रकार लिखा है "गाँधीजी ने शिक्षित वर्ग और साधारण जन, मध्यम वर्ग और किसान-मज़दूर के अलगाव में देश की त्रासदी की कुंजी खोजी थी। गाँधीजी की यह मूल समझ आज के भारत के लिए भी उतनी ही जीवंत और प्रासंगिक है, जितनी उनके जीवन काल के भारत और उसके बाद के पाँच दशकों के लिए थी।"[1] मध्यवर्ग की इस सामाजिक संवेदनशून्यता की एक और वजह भी है। वह है सामुदायिक मूल्यों पर बल देनेवाली नैतिक आग्रहों की अनुपस्थिति। अब गरीब का अस्तित्व उसकेलिए कोई ठोस यथार्थ नहीं।

भारत एक विकासशील देश है। उसके अपनी व्यवस्थागत दायरें हैं। लेकिन मध्यवर्ग की बढ़ती सुविधाभोगी दृष्टि भारत जैसे देश की व्यवस्थाजन्य संभावनाओं को कभी भी नहीं समझ पायी। व्यवस्था की सीमाएँ मध्यवर्गीय आकांक्षाओं के आगे बौनी पड़ गयीं। फिर भी मध्यवर्ग ने इन सीमाओं के बुनियादी कारणों एवं उसका समाधान खोजने का प्रयत्न नहीं किया। इसके बदले मध्यवर्गीय आलोचना राज्य की अक्षमता पर ही केंद्रित रही, अपनी गैरजिम्मेदारी पर नहीं। व्यवस्था की अक्षमता की पहचान ने उसे हड़पूनीति और भ्रष्टाचार को अपनाने की प्रेरणा दी।

---

1. पूरन चंद्र जोशी स्वप्न और यथार्थ आज़ादी की आधी सदी, 2000 पृ. 47

सर्वोच्च स्तरों पर भ्रष्टाचार ने मध्यवर्गीय भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया। वह एक तरफ बोफोर्स सौदे में कमीशन खोरी की निंदा करता था तो दूसरी तरफ रोजमर्रा के जीवन में भ्रष्टाचार को खामोश स्वीकृत करता था। इस तरह मध्यवर्ग राजनेताओं की भर्त्सना के बहाने अपनी स्वार्थपरता को छिपाता था और अपने दायित्वों से बचता था। वह कहता था राजनीति गंदी है इसलिए भले लोग उससे दूर ही अच्छे हैं। लकिन वह कभी भी यह स्वीकार नहीं करता था कि राजनीति इसलिए गंदी है क्योंकि भले लोग उसमें नहीं है। इसप्रकार राजनीति में अपनी सक्रिय भागीदारी को रोकनेवाला अधिकांश मध्यवर्ग लोकतांत्रिक व्यवस्था के भ्रष्ट होते चले जाने का आलोचनात्मक दर्शक बनकर रह गया। मध्यवर्ग की आलोचना करने की इस प्रवृत्ति का कुछ कुशल लोगों ने इस्तेमाल भी किया है।

सत्ता जब मध्यवर्गीय आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति करने में अक्षम हुआ है तो इसका परिणाम समाज व्यवस्था की शिथिलता के रूप में सामने आया। सामाजिक संरचना की इस कमज़ोर अवस्था में व्यक्ति ने निजी हितों को प्रमुखता दिया। कभी दबे आवेग अराजक शैली में फूट लिया। ऐसी हालात में मध्यवर्ग ने अपने हितों के ज्यादा अनुकूल लगनेवाले कोई भी निरंकुश शासन व्यवस्था स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया। इसलिए आपातकालीन घोषणा को अधिकांश मध्यवर्ग ने बिना किसी संकोच से स्वीकार कर लिया। इसप्रकार मध्यवर्ग संकुचित राष्ट्रीयता करनेवालों के हाथ का मोहरा बन गया। जिस वर्ग से देश की संस्कृति संचालित होती है उस वर्ग के द्वारा लोकतांत्रिक मूल्यों की उपेक्षा करना एक गहन संकट का कारण बना।

भारत में धर्म के नाम पर विकृतियाँ बढ़ती जा रही हैं। इस संदर्भ में यह देखना है कि मध्यवर्ग के जीवन में अब धर्म की भूमिका क्या है? मध्यवर्ग ने सिद्धांततः धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को स्वीकार किया। पर व्यावहारिक स्तर पर वह धर्म की भूमिका को धर्मनिरपेक्ष तक सीमित करने के लिए तैयार नहीं था। वह इसलिए कि धर्मनिरपेक्षता को मध्यवर्ग ने महज़ आधुनिकता की ज़रूरत के रूप में अपनाया था। यह मध्यवर्ग में विद्यमान अंधविश्वासों और पूर्वाग्रहों को चुनौती देनेवाली चेतना का परिणाम नहीं था। फलतः आधुनिकता के आदर्श और परंपरा के बंधन का द्विभाजन धार्मिक क्षेत्र में मुखर हुआ। इसके अलावा धर्म ने सामुदायिक कल्याण के लिए प्रेरित करनेवाला कोई नैतिक मूल्य तैयार नहीं किया जिससे प्रभावित होकर व्यक्ति अपने आध्यात्मिक विकास को समाज के विकास से जोड़कर देख सकें। दुर्गा प्रसाद गुप्त ने इस संबंध में लिखा है "मध्यवर्ग का पाखंड उसकी आधुनिकता का पाखंड है। फिर नैतिकता चाहे सापेक्ष हो या निरपेक्ष, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। धार्मिक मूल्य जो एक समय जीवन और समाज का मूल्य होता था, वो भी मध्यवर्गीय जीवन में पाखंड में बदल जाते हैं। इसलिए धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्य मध्यवर्ग के जीवन में नैतिकता का कोई आधार नहीं तैयार करते।"[1] धर्म केंद्रित इस संकुचित दृष्टि ने मध्यवर्गीय स्वार्थ को अपने दायरे से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं दी। इसलिए मध्यवर्ग को धार्मिक विचार धाराएँ, राष्ट्रवाद एवं नागरिकता की परिचित विचारधाराओं से भी अधिक आकर्षक

---

1. दुर्गाप्रसाद गुप्त आधुनिक मध्यवर्ग और नैतिकता (लेख), हंस, अगस्त 2005 - पृ. 81

लगने लगीं। सुरक्षाबोध जगाने, अस्तित्व का दावा करने, अतीत की स्मृतियों को पुनः पुनर्जीवित करने आदि कई कारणों की वजह से मध्यवर्ग धर्म से जुड़ गया। मध्यवर्ग के इस जुड़ाव का परिणाम धर्मकेंद्रित राजनीति करनेवालों के समर्थन के रूप में भी प्रकट हुआ। ये लोग मध्यवर्गीय धार्मिक रुचि को अन्य धर्मों के खिलाफ जुझारू तेवर में बदल दिये। फलतः धर्म के नाम पर देश बिखर गया।

मध्यवर्ग के मन में अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रति आकर्षण है। मध्यवर्ग के लिए अंग्रेज़ी सभ्यता श्रेष्ठतम सभ्यता का प्रतीक है। लेकिन यह सभ्यता मानवीय मूल्यों के सशक्त आधार पर टिका नहीं है। इस सभ्यता ने हमेशा भौतिक उपलब्धि को ही सबसे श्रेष्ठ माना है। प्रतिष्ठा और आदर का सीधा संबंध व्यक्ति की संपत्ति एवं उसके पास मौजूद भौतिक साधनों से माना है। यह मान्यता भौतिक साधनों के प्रति असीमित कामना का कारण बना। अब असीमित कामना पर संयम की रोक लगाना भी संभव नहीं क्योंकि इस खोखले संस्कृति की बाढ़ ने नैतिक मूल्यों को नष्ट कर दिया। परिणाम कई अनैतिक हथकण्डों के रूप में हुआ।

आर्थिक लाभ के पीछे की दौड़ ने मध्यवर्गीय व्यक्ति को संवेदनशून्य बनाया। इससे मध्यवर्ग के समस्त मानवीय संबंध तनाव और विघटन की सीमा को छू लिया। वह समाज के अन्य लोगों विशेषकर निम्नवर्ग के लोगों से स्पष्ट अलगाव रखना शुरू किया। वह अपने दायरे में सीमित हो गया। अपनी दुनिया में कैद रहकर वह उच्चवर्ग के हिसाब से सपने बुनता गया। लेकिन सपने और यथार्थ में कभी बहुत बड़ी खाई दिखायी

दी। इस बढ़ते अंतर ने उसे काफी अशांत कर दिया। यह अशांति कभी अराजकता और कभी आत्महत्या बनकर प्रकट हुई। स्थिति तब और गंभीर बनी जब मध्यवर्ग की चेतना ने इन आत्महत्याओं को भावशून्य आँकड़ों के रूप में देखने लगा। मध्यवर्ग की इस रवैये ने उसे सामाजिक सरोकारों से युक्त नागरिकों के बजाय केवल उपभोक्ताओं में बदल दिया।

मध्यवर्ग के मन में आधुनिक मनुष्य और आधुनिक समाज की छवियों के प्रति सहज आकर्षण है। लेकिन उसके लिए अतीत से मुक्ति पाना भी आसान नहीं था। वह अतीत के प्रशंसा लायक तत्वों को अपनाकर आलोचना लायक तत्वों का त्याग कर सकता था। लेकिन मध्यवर्ग का एक औसत सदस्य इस बौद्धिक बारीकी को न पकड़ सका। वह आधुनिकता को अस्पष्ट रूप में ही ग्रहण कर सका। फलतः वह एक खंडित मानसिकता का शिकार होता गया। सार्वजनिक जीवन में वह आधुनिकता के तत्वों को स्वीकार करता था। पर निजी जीवन में इस अनुमोदन के खिलाफ था। अतः आधुनिकतावादी मूल्य भारतीय समाज के भीतर तक नहीं उतर पाया।

अब सवाल यह है कि मध्यवर्ग के लिए कैसी आधुनिकता प्रिय है? जैसे पहले ही इसका उल्लेख किया है कि मध्यवर्ग पर विदेशी सभ्यता का विचारधारात्मक वर्चस्व है। इसलिए अब भी उसे 'पाकेट मोडेनिटी' पसंद है। किसी के द्वारा प्रस्तुत आधुनिकता उसे इस शर्त पर प्रिय है कि इससे उसकी संकुचितता को नियंत्रित करने की ज़रूरत न हो। मध्यवर्ग द्वारा स्वीकृत यह आधुनिकता आज धन के बल पर स्थित है। आधुनिकता

और उससे जुड़ी स्वतंत्रता कई उपभोग वस्तुओं पर केंद्रित हो गयी। मन की आधुनिकता यहाँ उपेक्षित रह गयी। आधुनिकता एवं स्वतंत्रता का वेश-भूषा, भौतिक सामग्रियों में सीमित होने का दृश्य आज समाज में देख सकते हैं।

मध्यवर्गीय आचरण का समाजशास्त्र

मध्यवर्गीय संस्कृति तरह-तरह के अंतर्विरोधों से ग्रस्त है। ये अंतर्विरोध मध्यवर्गीय आचरण के ज़रिये प्रकट होते हैं। समकालीन कहानी ने जिनका मुख्य संबंध समकालीन अवस्थाओं से है इसे अपनी रचना का विषय बनाया। समकालीन कहानी में चित्रित मध्यवर्गीय आचरण के मुख्य मुद्दों का अध्ययन सामाजिक अंतर्विरोधों के कई परतों को सामने ले आता है।

अर्थ केंद्रित दृष्टि

भोग जब सभी सामाजिक गतिविधियों का मकसद बन जाता है तो अर्थ केंद्रित दृष्टि को मान्यता मिलना स्वाभाविक है। मध्यवर्ग ने इस अर्थ केंद्रित दृष्टि को सहज रूप से अपनाया है। क्यों? मध्यवर्ग अपनी आकांक्षाओं एवं जीवनशैली अभिजात वर्ग के हिसाब से रचता है। अभिजात वर्गीय जीवन मुख्यतः भोग पर आधारित है। अपनी आर्थिक शक्ति के परे गढ़नेवाला मध्यवर्गीय स्वप्न जब किसी मूल्य से संयत नहीं होता तो समस्या गंभीर बनती है। इसका सीधा असर सामाजिक संरचना पर पड़ता है। सामाजिक संबंध एवं सामाजिक स्वीकृति का आधार बदल जाता है। वह सिर्फ अर्थ केंद्रित हो जाता है।

एक अर्थ केंद्रित समाज में सिद्धांतों एवं आदर्शों का टिकना बहुत मुश्किल है। आदर्श एवं सिद्धांत प्रदर्शन की वस्तु बन जाती है। व्यावहारिक जीवन में इन सिद्धांतों का प्रयोग प्रगतिविरोधी ही बन जाता है। प्रसिद्ध समकालीन कहानीकार शिवमूर्ति ने अपनी 'भरतनाट्यम' कहानी में इस पक्ष का उद्घाटन किया है। प्रस्तुत कहानी के आदर्शवादी नायक को इसलिए नौकरी से जलील करके निकाल दिया जाता है कि उसने इन आदर्शों का प्रयोग करने की हिम्मत की। "उस समय तक सिद्धांत शब्द से मेरा मोह टूटा नहीं था। अन्य मास्टर लोग भी अपने आपको कम सिद्धांतवादी नहीं मानते थे। अंतर यह था कि जहाँ और लोग सिद्धांत को 'शोकेस' में रखते थे, मैं कभी-कभी उसका 'रफ-यूज' करने लगता था। जिस घटना के कारण मुझे विद्यालय छोड़ना पड़ा, उस समय भी यही हुआ था।"[1] परिणाम आदर्शों की मौत के रूप में सामने आया।

आदर्श की समाप्ति का लक्ष्ण सिर्फ समाज में ही नहीं साहित्य में भी देखा जा सकता है। यह मध्यवर्गीय लेखकों की अर्थ केन्द्रित दृष्टि का परिणाम था। साहित्य जिसे कुछ उच्च मूल्यों की स्थापना के लिए टिकना है, वह अपने उद्देश्य से विचलित हो जाता है। परिणामतः रचना से ईमानदारी नष्ट हो जाती है। वह ज्यादा सुविधाजनक रास्ता चुन लेता है। ज्ञानरंजन ने घंटा कहानी में इस स्थिति का अंकन किया है "कुंदन सरकार काफी भनकता हुआ नाम था। शहर के तमाम लेखक और बुद्धिजीवी उस तक पहुँच चुके थे। ये सब मध्यवर्गीय लेखक थे, जिसका

---

1. शिवमूर्ति केशर कस्तूरी (सं), भरतनाट्यम, 1991 पृ. 79

खाते उसका बजाते भी खूब थे।"[1] यहाँ रचना सिर्फ 'खुश' करने के लिए लिखी जानेवाली वस्तु बन गयी है। ऐसी रचनाओं की सृजन करनेवाले लेखक समाज में टिकते हैं। ईमानदार लेखकों की स्थिति बहुत ही दयनीय है। क्योंकि अब ईमानदार लेखन का मतलब है खतरा या बेचैनी मोल लेना। ज्ञानरंजन ने खुद अपने लेखन के संदर्भ में इस स्थिति को झेला है। "अपनी कहानियों के बारे में मेरा अनुभव यह है कि जब भी वे सामने आती थीं, मेरे साथियों ने चुप्पी और लगभग आतंकित हो जाने जैसा सलूक किया। मेरे अभिन्न मुझे घूरते थे और खेद अनुभव करते थे और घर में कहानी को माता-पिता लगभग छिपी जगहों में डाल देते थे।"[2] इसप्रकार एक अस्वस्थ माहौल ईमानदारी दिखानेवालों की नियति बन गयी है और आदर्शहीन व्यक्ति एवं अवस्था को समाज में सुरक्षित जगह मिल जाती है।

आदर्श जो वास्तव में स्वाभिमान का प्रतिरूप है उसके गलने का तात्पर्य है आदमी का अपने वजूद से वंचित होना। ऐसी हालात में व्यक्ति अपने स्वत्व के साथ टिक नहीं सकता, बल्कि वह सिर्फ एक बहाव में बह सकता है। यह बहाव उसकी दिमागी सुप्तावस्था ही है। इसके चलते व्यक्ति किसी भी प्रतिगामी स्थितियों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है। इसका चित्रण ज्ञानरंजन ने 'घंटा' कहानी में किया है। इसमें एक लेखक शराब के लोभ से अपने वजूद को छिपाकर कुंदन

---

1. ज्ञानरंजन सपना नहीं (सं), घंटा, 1997 पृ. 180-181
2. ज्ञानरंजन प्रतिनिधि कहानियाँ भूमिका, 1990 - पृ. 5

सरकार नामक बुद्धिजीवी किस्म के आदमी से अपना रिश्ता जोड़ देता है। लेकिन शुरू से लेकर उसके सामने कई ऐसी स्थितियाँ आती हैं जिनका वह विरोध करना चाहता है। लेकिन इन सबके विरोध में खड़ा होने के लिए उसके पास कोई आधार नहीं है। उसका स्वाभिमान उसे असमंजस की स्थितियों का महसूस तो कराता है लेकिन उसके बोध को संचालित नहीं कर पाता। क्योंकि उसका बोध अब मस्ती के नशे से भरा हुआ है। "मैं नहीं जानता कि यह शराब थी अथवा मेरा शुद्ध रूप, पर मुझे साज की आवाज़ों से मतली आने लगी। मैं ने सोचा, अंदर की कडुवाहटें, अचानक स्वादिष्ट जायके में तबदील हो जाएँ, इसके पहले, मुझे कुछ कर डालना चाहिए, ज़रा-सा सुस्ताने लगो दुनिया गले के नीचे खिसकना शुरू कर देती है। मैं निगलना नहीं चाहता, उगलना चाहता हूँ। नशे ने मुझे बचा रखा था, नहीं तो इस वक्त मुझे पता है, कसमसा कर अधिक से अधिक दो गालियाँ बकता और 'सो-सो' हो जाता। फिलहाल मेरा दिमाग एक बागी मस्ती से भरा हुआ था।"[1] यह निष्क्रिय अवस्था अपने वजूद एवं आदर्श से वंचित हर मध्यवर्गीय आदमी की तकदीर बन गयी है।

अर्थ केंद्रित दृष्टि ने आदर्श की समाप्ति तो की, पर मध्यवर्ग में अब भी आदर्शवादी जीवित है। मौत सिर्फ आदर्श की हुई है आदर्शवादी की नहीं। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी इस अंतर्विरोध से उपजा एक तबका है। ये बुद्धिजीवी वर्ग मनुष्यत्व रहित मानवीयता के स्वर के साथ आमआदमी से जुड़ जाता है। ज्ञानरंजन की 'घंटा' कहानी का कुंदनसरकार ऐसे ही

---

1. ज्ञानरंजन - सपना नहीं (सं), घंटा, 1997 पृ. 184

एक बुद्धिजीवी है। "उसने (कुंदन सरकार ने) मुझे बार-बार बताया कि वह सच्चाई का पूजारी है। 'तुम देखो मैं स्कॉच पी सकता हूँ, फिर भी ठर्रा क्यों पीता हूँ, बीडी क्यों पीता हूँ, सड़कों पर पैदल क्यों भटकता हूँ, बोरा खादी क्यों पहनता हूँ, गाडी होते हुए भी पैदल क्यों चलता हूँ, जबकि मैं लेखक नहीं हूँ, बस बुद्धिजीवी हूँ। असली बात यह है कि मुझे सच्चाई खूबसूरत लगती है और मैं सत्य इकट्ठा कर रहा हूँ।"[1] यहाँ आम आदमी की सच्चाई उनकेलिए इकट्ठा करनेवाली वस्तु है। अनुभव करने की वास्तविकता नहीं है।

अर्थ जब सामाजिक स्वीकृति का आधार बना तो धनी व्यक्ति को सफल व्यक्ति मानने की धारणा भी विकसित हो गयी। समाज में धनी लोगों को महत्व की दृष्टि से देखने का एक अन्य पहलू है उनके वर्चस्व की मूक स्वीकृति। धन का यह वर्चस्व सामाजिक संरचना के ऊपर से लेकर नीचे तक व्याप्त है। मानवीय संबंध इसके नीचे चरमराते हैं। परिवार जिसे मानवीय संबंधों का शक्तिकेंद्र माना जाता है, वहाँ तक यह वर्चस्व साफ नज़र आता है। ऊर्मिला शिरीष की 'पत्थर की लकीर' कहानी में शैला की बुआ को उसके ससुरालवाले संपत्ति का हिस्सा हासिल करने के लिए बहुत कष्ट देते हैं। उसके ससुरालवाले उसे खाने के लिए बासी रोटियाँ तक नहीं देते हैं। इन उत्पीडनों से तंग आकर बुआ संपत्ति का हिस्सा माँगने के लिए माइके आती है। उसके सामने जिंदा रहने के लिए और कोई उपाय नहीं था। लेकिन बुआ के पिता और भाई उसे

---

1. ज्ञानरंजन - सपना नहीं (सं), घंटा, 1997 पृ. 182

संपत्ति देने से साफ इंकार कर देते हैं। जैसे ही वह अपना हक माँगती है वैसे ही सब लोग उसे अपने मन से निष्कासित कर देते हैं। जब तक वह अपना हक माँगे बिना चुप रहती थी तब तक सारे रिश्तेदार उसे अपना मानते थे। यहाँ रिश्तों का आधार आपसी प्रेम नहीं, बल्कि संपत्ति मात्र है। बुआ द्वारा शैला को लिखा गया पत्र इस यथार्थ का खुलासा करता है - "जो माँगा था वो मेरा हक था। अपने अस्तित्व के लिए, अपने प्राणों के लिए उस समय उसी की ज़रूरत थी। एक ही माँ-बाप की संतान में इतना अन्तर। वही नाम, कुल, गोत्र, वही पहचान। खून एक होता है तो उसकी चीज़ें क्यों अलग हो जाती हैं? वही द्वन्द्व था जो सामने आया था..... जो कोई भी एक क्षण जीना नहीं चाहेगा। काश, मेरे पिता और भाई खडे हो जाते.... उस घर की बेटियाँ हर बात में शामिल रही हैं, दुःख में, बीमारी में सिर्फ शामिल नहीं हो पाती तो ज़मीन के टुकड़ों और घर के आँगनों में।"[1] परिवार केंद्रित इस तानाशाही के संबंध में मुक्तिबोध ने इस प्रकार लिखा है - "आज भी हमारे परिवार अमानवी कट्टपंथी विचारधारा के गढ़ हैं, या बुर्जुआ किस्म के सत्तावाद के दुर्ग हैं।.... धन, अर्थ, सांसारिक सफलता और उससे मिली हुई कीर्ति की तानाशाही परिवार में जितनी चलती है, उतनी बाहर भी नहीं। मानवतावाद की हरदम दुहाई देते हुए भी, घर में जितना अहंवाद और व्यक्तिवाद तथा वैचारिक दासता चलती है, उसकी कोई हद नहीं। मज़ा यह है कि उसको स्वाभाविक मान लिया गया है, वह प्रकृतिजात है। स्वाभाविक है, इसलिए सही भी है।"[2]

---

1. ऊर्मिला शिरीष निर्वासन (सं), पत्थर की लकीर, 2003 पृ. 92-93
2. नेमिचंद्र जैन (सं) मुक्तिबोध रचनावली-4, 1980 - पृ. 43

इसप्रकार मध्यवर्गीय मानवीय संबंधों में पूँजी केंद्रित एक अमानवीय विचार बहुत स्वाभाविक रूप में स्थिति है।

पूँजी के इस महँगेपन का परिणाम है आदमी का सस्तापन। जब सामाजिक हैसियत देने की क्षमता पूँजी केंद्रित व्यवस्था के अधीन हो और सामाजिक हैसियत हासिल करने की क्षमता को ही अस्तित्व की शर्त मान लिया गया हो तो हर आदमी उस पूँजी केंद्रित व्यवस्था की गुलामी करने के लिए विवश बन जाता है। मध्यवर्ग में यह विवशता चाटूकारिता के रूप में प्रकट होती है। इस चाटूकारिता के आगे आदमी की अपनी असलियत कोई मायने नहीं रखती। शिवमूर्ति ने 'भरतनाट्यम' कहानी में लिखा है - "यहाँ बॉस की गुड़बुक में होना इस बात पर निर्भर नहीं था कि आप कितने हार्ड वर्कर हैं बल्कि इस बात पर कि आप कितनी चापलूसी कर लेते हैं, उससे कितना ज्यादा डरते और कितनी कम बातें करते हैं। उसके जायज-नाजायज गुस्से को कितनी सहज़ता से 'सुखे-दुखे समे कृत्वा' के भाव से सिर झुकाकर स्वीकार करते हैं। उसके घर पर कितनी बार सलाम करने जाते हैं। और उसके बच्चों के जन्म दिन पर कैसा उपहार ले जाते हैं।"[1] यहाँ आदमी की असलियत उसके अंतर्मन में दमित रहती है। इस दमित अवस्था का समूह में रहने की शर्त के रूप में परिवर्तित होना एक बहुत बड़ी समस्या है। संक्षेप में कह सकते हैं कि संस्कार के आधारभूत जीवनबोध से जब मानवीयता रिस जाती है तब सामाजिक संरचना कुछ शर्तों पर केंद्रित होती है। इन शर्तों की अमानवीयता व्यक्ति

---

1. शिवमूर्ति केशर कस्तूरी (सं), भरतनाट्यम, 1991 पृ. 84

को, विशेषकर साधनहीन व्यक्ति को, सामाजिक दायरे से बाहर धखेलकर पागलपन की 'भरतनाट्यम' रचाने के लिए छोड़ देती है।

असीमित महत्वाकांक्षा

मध्यवर्गीय धन केंद्रित दृष्टि असीमित महत्वाकांक्षा को जन्म देती है। मध्यवर्ग में जब इच्छापूर्ति का आग्रह प्रबल हो और उसकी पूर्ति नागरिक सुविधाओं की भारी कमी के माहौल में करनी हो तो यह प्रतिस्पर्धा का कारण बनती है। प्रतिस्पर्धा की यह भावना धीरे-धीरे मध्यवर्गीय जीवन का हिस्सा बन जाती है। प्रतिस्पर्धा की यह संस्कृति मध्यवर्गीय जीवन एवं आचरण को कैसे प्रभावित करती है? प्रतिस्पर्धा की संस्कृति में भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ भावुकता को बेवकूफी मानी जाती है। इसलिए मध्यवर्गीय जीवन में भावुकता का स्थान व्यावहारिकता ने ले लिया। व्यक्ति किसी भी भावना से तब तक ही जुड़ना पसंद करता है जब तक उससे कोई फायदा निकल आता है। समकालीन कहानीकार अरुण प्रकाश ने इस सच्चाई को 'बहुत अच्छी लड़की' कहानी के माध्यम से चित्रित किया है। इसमें अनिता राव नामक पात्र जो विधवा है वह अपने अतीत से मुक्त होना चाहती है। इसके लिए वह अपनी बच्ची मोना तक को छोड़ने के लिए तैयार हो जाती है। पर वह अपने पति विकास राव के डेथ क्लेम मिलने तक मिसेज अनिता राव ही बने रहना चाहती है। यहाँ रिश्ता एक बोझ बन जाता है। अनिता राव अपनी बेटी मोना को छोड़ने के लिए यह तर्क देती है कि - "मैं मोना को विकास का

मेडल बनाकर गले में और नहीं लटकाना चाहती।"[1] फलतः हमारे समाज में अनाथाश्रमों एवं वृद्धसदनों की संख्या बढ़ रही है। धन के पीछे की दौड़ ने व्यक्ति को संवेदनशून्य बनाया है। वह अपने से आगे नहीं सोच पाता।

रिश्तों में आये ये परिवर्तन व्यक्ति को आत्मकेंद्रित बनाते हैं। सब अपनी-अपनी जिंदगी जीने लगते हैं। परिणाम है पारिवारिक व्यवस्था का विघटन। कभी यह विघटन प्रत्यक्ष नज़र आता है। लेकिन अक्सर यह विघटित अवस्था सुदृढ़ पारिवारिक ढाँचे के भीतर बनी रहती है। इसके चलते एक परिवार कई परिवारों में बाँट जाता है। घर के भीतर स्वाभाविक रूप से स्थित बिखराव का चित्रण ज्ञानरंजन ने 'शेष होते हुए' कहानी में बहुत स्वाभाविकता के साथ किया है। "मझले की छुट्टियाँ अगर बहुत लम्बी हो जाएँ तो भी घर में ऐसा अवसर शायद आ सके जब लोग एक स्थान पर एकत्र हों। घर में सात लोग हैं, और सात बार टेबल पर खाना रखा जाता है। मझला भी इस व्यवस्था में आसानी से शामिल हो जाता है, क्योंकि किसी को भी एक-दूसरे का सामना करना सरल नहीं लगता। कोई गंभीर दुर्घटना ही शायद लोगों को एक स्थान पर एकत्र कर सकती है।"[2] आत्मीयता का न रहना जो खूद एक गंभीर दुर्घटना है - यहाँ किसी को अस्वाभाविक नहीं लगता। गंगा प्रसाद विमल ने ज्ञानरंजन की इस कहानी के संदर्भ में लिखा है - "पारिवारिक संबंध उसके लिए (मध्यवर्ग) चुनौती बन गये हैं। रूढ़ संबंधों के प्रति नई पीढ़ी का आस्थावान बने

---

1. अरुण प्रकाश विषम राग (सं), बहुत अच्छी लड़की, 2003 पृ. 71
2. ज्ञानरंजन सपना नहीं (सं), शेष होते हुए, 1997 पृ. 148-149

रहना संभव नहीं है। वह उन संबंधों के प्रति कहीं भीतर से जुड़ाव महसूस ही नहीं कर पाती। उसने देखा है संबंधों के ऊपर सबसे बड़ी जो चीज़ काम करती है, वह है पैसा। वही संबंधों को बनाता है और वही बिगाड़ता है। इसीलिए वह इनके प्रति बेहद ठंडा है। संबंधों का यह ठंडापन उसके लिए अत्यंत जटिल समस्याओं का विधायक हुआ है। परिवार के सारे सदस्य एक दूसरे से औपचारिक बंधनों से बंधे हैं। उसका एक चहारदीवारी से जुडे होना ही उनके संबंधों का द्योतक है, अन्यथा वे एकदम अलग-थलग हैं - प्रत्येक सिर्फ अपने आप तक सीमित।"[1] आत्मकेंद्रीयता को मध्यवर्ग ने सहज रूप से स्वीकारा है। इसलिए इस समस्या की अपनी तमाम गंभीरताओं के बावजूद उसे सरल दृष्टि से देखा गया। यह सरलीकरण भी अपने आप में विघटन है।

भौतिक सुखों के पीछे की दौड़ में रिश्तों में आयी संवेदनशून्यता सिर्फ परिवार तक सीमित नहीं रहती। समस्त मानवीय संबंधों पर इसका प्रभाव दिखता है। कभी यह संवेदनशून्यता अमानवीयता की हद तक पहुँच जाती है। अपने लाभ के लिए वह किसी भी हद तक अमानवीय हो सकता है इसका चित्रण जितेंद्र भाटिया ने अपनी 'शहादतनामा' शीर्षक कहानी में किया है। इसमें मुख्य पात्र अपने सहकर्मी को कॉस्टिक टैंक में धकेलकर मारनेवाली घटना का चश्मदीद गवाह है। इतने पर भी अपनी पदोन्नति के लोभ में वह चुप्पी साधता है। "माई डियर ब्वॉय!" चीफ असिस्टेंट की आवाज़ में नर्मी थी, "मैं ने तुम्हें यह खुशखबरी देने के लिए

1. गंगाप्रसाद विमल आधुनिक हिंदी कहानी, 2002 पृ. 80

बुलाया है कि हम सबने तुम्हें अपने काम में ईमानदारऔर तेज़ पाया है। हम तुम्हारी तरक्की की सिफारिश बोर्ड से कर रहे हैं। यू शैल बी मेड ए सुपरवाइजर......!" "बाई दि वे!" अचानक वर्क्स मैनेजर ने कहा और मैं अपनी सारी सोच को झटक कर पूरे होशो-हवास में सीधा खड़ा हो गया।

"मुझे बताया गया है कि कल रात के दर्दनाक हादसे के वक्त तुम वहाँ मौजूद थे..... राइट......? ऐसा है कि उसकी एक्सिडेंट रिपोर्ट तैयार हो रही है..... सिंस दिस इज ए केस ऑफ फेटेलिटी एंड ए पुलिस केस..... तुम्हें बतौर गवाह उन पेपर्स पर दस्तखत करने हैं..... मिस्टर परेरा तुम्हें पर्टिकुलर्स दे देंगे..... ओ के ? यू मे गो नाउ......"[1] मध्यवर्ग की यह अवसरवादिता उसे पूँजीपतियों के हाथ का कठपुतला बना देती है। उसे पूँजीवादी व्यवस्था का सेवक बना देता है। यहाँ व्यक्ति के स्व का कोई मूल्य नहीं है। उसकी प्रासंगिकता अपने 'स्व' से दूर रहने में ही है। अपनी इच्छा और युक्ति से वंचित यह अवस्था जब व्यक्ति की 'सफलता' निर्धारित करने लगती है तो ऐसी सफलता एक शाप बनती है। जितेंद्र भाटिया ने 'धर्मपरिवर्तन' शीर्षक कहानी में ऐसे ही एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति के जीवन को उभारा है। वह व्यक्ति सब कुछ पाकर भी खुश नहीं है। अपने जीवन के बारे में वह स्वयं बताता है - "किलर इंस्टिंक्ट। छाती में चुभता हुआ एक कांटा जो सारी तकलीफ को एक केंद्रबिंदु पर दोहरा-तिहरा करता चला जाता है। महत्वाकांक्षा। कभी ज़मीन पर न लौटने का

---

1. जितेंद्र भाटिया सिद्धार्थ का लौटना (सं), शहादतनामा, 2000 - पृ. 90-91

एक शाप, एक भरभराती हुई बद्दुआ, जो कभी टलती नहीं, बार-बार लौट आती है। सफलता। एक अंधा कुआं, जिससे एक लंबी, दर्दनाक चीख के अलावा कुछ नहीं निकलता।"[1] अपनी जड़ से कटी हुई यह अवस्था हर मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षी व्यक्ति की नियति है।

सफलता को एकमात्र लक्ष्य माननेवाले मध्यवर्ग के लिए नैतिकता, आदर्श, मूल्य आदि बेमतलब की वस्तुएँ हैं। उसके लिए तिकड़म एकमात्र मूल्य बन जाता है। इसलिए मध्यवर्ग ने भ्रष्टाचार को समाज के अपरिहार्य अंग के रूप में स्वीकार कर लिया है। स्वयंप्रकाश की 'दस साल बाद' कहानी में इसका चित्रण किया है। इसमें संजू नामक पात्र-जो पहले क्रांतिकारी था - अब अपनी सिद्धांतहीनता एवं भ्रष्टाचार का तर्क इसप्रकार प्रकट करता है "मैं खिलाता हूँ, मैं जानता हूँ। ऊपर से नीचे तक। कविता में जो सुंदर दिखाई देता है वह वास्तव में कैसा है?.... कुछ नहीं बॉस। बचपना था वो कि सौ-दो सौ लड़के पढ़ाई-लिखाई छोड़कर पूँजीवाद का नाश करने निकल पड़े। शीयर बचपना, और उसमें भी देख लो, जो लड़के उस वक्त अपने साथ नहीं थे.... आज कलेक्टर कमिश्नर हैं.... और अपने साथी कहाँ पहूँचे? ज्यादातर या तो बाबूगिरी कर रहे हैं या फटीचरी कर रहे हैं। यस, आय एम करप्ट। हूँ मैं भ्रष्ट। लेकिन कौन भ्रष्ट नहीं है।"[2] यहाँ भ्रष्टाचार करने की क्षमता समाज में कुछ बनने की योग्यता बन जाती है।

---

1. जितेन्द्र भाटिया सिद्धार्थ का लौटना (सं), धर्मपरिवर्तन, 2000, पृ. 53
2. स्वयंप्रकाश आदमी जात का आदमी (सं), दस साल बाद, 1994 पृ. 49

ऊँचे स्तर पर विशेषकर राजनीति के स्तर पर भ्रष्टाचार को मिलनेवाली सफलता मध्यवर्गीय भ्रष्टाचार को पानी देने लगा। इस संबंध में शंभुनाथ ने लिखा है - "सत्ता की होड़ में दूषित राजनीतिक साधनों और शैलियों का उपयोग पूरे समाज पर कैसा प्रभाव डाल रहा है, किसी ने यह देखने का कष्ट नहीं किया। आम लोग कहने लगे कि जब मंत्री तक घूस लेने और देश को बेचने में लगे हैं, उनकी ज़रा-सी हेराफेरी से क्या हो जायेगा"[1] ऊँचे स्तर पर होनेवाले भ्रष्टाचार का वास्ता देकर मध्यवर्ग अपनी अनैतिकता को मनोवैज्ञानिक रूप से न्यूनतम कर लेता है। इस प्रवृत्ति ने पाखंड को बढ़ाया और अपराधबोध को कम किया। मध्यवर्ग ने उसूलों को पकड़ते रहने के बजाय बहती गंगा में हाथ धोना उचित समझा। इस स्थिति ने भ्रष्टता को बढावा दिया।

मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षा औपनिवेशिक मानसिक दासता से भी संचालित होती है। मध्यवर्गीय इच्छाएँ, पश्चिमी जीवन शैली के हिसाब से बनी या बनायी जानेवाली इच्छाएँ हैं। ऐसी इच्छाओं को मध्यवर्ग सबसे अधिक प्राथमिकता देता है क्योंकि औपनिवेशिक मानसिक दासता से उसे मुक्ति नहीं मिली है। आज कई माध्यमों से इस भावना को और अधिक सुदृढ़ किया जा रहा है। इसमें संप्रेषण क्रांति की अहम भूमिका है। "संप्रेषण क्रांति विश्व-स्तर पर आर्थिक और राजनीतिक केंद्रीकरण के कारण मानसिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर पश्चिमी विचार तथा सत्ता-केंद्रों के वर्चस्व को स्वीकार करने की प्रवृत्ति को सुदृढ़ कर रही है

---

1. राजकिशोर (सं) - भारत का राजनीतिक संकट, शंभूनाथ - संकट की सांस्कृतिक जड़ें (लेख), 1994 पृ. 131

और नव-मध्यम वर्ग को तेज़ी से औपनिवेशिक मानसिकता का वाहक बना रही है।"[1] औपनिवेशिक मानसिकता का वाहक बना यह मध्यवर्ग पश्चिमी ढंग की सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए लालायित है। मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षा के मूल में इस सुविधाप्राप्ति की लालसा है। आर्थिक उदारीकरण ने इस लालसा को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। मध्यवर्गीय उपभोक्तता को मिली सरकारी मान्यता ने मध्यवर्गीय आचरण को कैसे प्रभावित किया? मध्यवर्ग जिसने अपने आदर्श, नैतिकता और सामाजिक संवेदनशीलता को पहले ही कुर्बान कर चुका था, उसे आर्थिक उदारीकरण से बहाना मिल गया और वह अभावग्रस्तों की दुनिया से स्वयं को निसंकोच अलग कर दिया। गरीबी को नज़रअंदाज़ करना मान्य हो गया तो सामाजिक जीवन में सामुदायिक बोध की कोई गुंजाइश ही नहीं रही। जैसे ही उपभोग सामग्रियाँ बढ़ती गयी वैसे ही व्यक्ति आम जनता से कटता गया। इस सच्चाई को स्वयंप्रकाश ने 'गौरी का गुस्सा' कहानी में व्यक्त किया है। इसमें गरीब एवं बेकार रतनलाल अशांत नामक युवक पार्वती देवी के अनुग्रह से कई भोग वस्तुएँ प्राप्त करता है। लेकिन तब से उसे आसपास के आम जनता से जुड़ा माहौल असह्य लगने लगता है। वह सुखी रहने के लिए फिर से पार्वती देवी से प्रार्थना करके इससे भी अधिक भोग सामग्रियाँ प्राप्त करता है। लेकिन वह हमेशा अशांत ही रहता है। भोग सामग्रियों की प्राप्ति के ज़रिये एक बेहत्तर दुनिया प्राप्त करने की उसकी इच्छा कभी भी पूर्ण नहीं होती। यहाँ रतनलाल सामाजिक सरोकारविहीन

---

1. पूरन चंद्र जोशी - स्वप्न और यथार्थ आज़ादी की आधी सदी, 2000 पृ. 129

उपभोग वर्ग का प्रतिनिधि है। ऐसे उपभोग वर्ग कभी भी देश को एक सुदृढ़ राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक आधार प्रदान नहीं कर सकता। ओमप्रकाश ग्रेवाल ने इस कहानी के संबंध में लिखा है - "मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिकता को उपभोक्तावादी आकांक्षाओं का भूत कैसे अपने जादुई और घातक शिकंजे में जकड़ लेता है, उसकी सामाजिक सोद्‌देश्यता की भावना कैसे निष्प्राण और अप्रासंगिक हो जाती है, उसके आत्मीय रिश्ते कैसे छूँछे पड़ जाते हैं, आत्मकेंद्रित क्षुद्रता और संशयात्मकता अथवा अनास्था का बोझ ढोते रहना कैसे उसकी नियति बन जाता है, आह्‌लादपूर्ण मानवीय अनुभवों में उसके लिए कैसे एक क्षणिक दैहिक सुरसुरी के अलावा कुछ नहीं बच रहता तथा कला, संस्कृति और सौंदर्य का उसका बोध कैसे भोंथरा होता चला जाता है, बाजारवाद के बढ़ते हुए दबावों से उत्पन्न इस प्रकार की संभावनाओं तथा परिणतियों को यहाँ पूरे कद में दिखाया जाता है।"[1] उपभोक्तावाद पर लगी सरकारी मुहर ने चमकदार जीवन की मध्यवर्गीय आकांक्षाओं को बंदिशों से मुक्त कर दिया। लेकिन मध्यवर्ग की आर्थिक ताकत बहुत सीमित है। फिर भी वह भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए जी तोड़ प्रयास करता है। यह चक्कर उसे उसकी जड़ से दूर ले जाता है और व्यक्ति उस चकाचौंधवाली दुनिया द्‌वारा निर्मित छवि में ही रमना चाहता है। वह अपनी वास्तविकता की ओर लौटना ही नहीं चाहता। लेकिन जीवन के कटु यथार्थ का सामना करने से कोई बच नहीं सकता। तब वह अपने यथार्थ में और अपने मन

---

1. ओमप्रकाश ग्रेवाल हिन्दी कहानी का मौजूदा पड़ाव, कथन, जनवरी-मार्च 2001 पृ. 51-52

में प्रतिष्ठित चकाचौंधवाली दुनिया की छवि में एक गहरी खाई पाता है। इससे उत्पन्न निराशा उसके सामने आत्महत्या का विकल्प छोड़ देता है। स्वयंप्रकाश ने अपनी 'बलि' नामक कहानी में इस समय-सत्य को रेखांकित किया है। एक अमीर परिवार में नौकरानी की हैसियत से आनेवाली लड़की धीरे-धीरे चमकदार दुनिया की ओर आकर्षित होती है। बाद में उसे उस दुनिया की आदत पड़ जाती है। उस दुनिया की छवि ने उसे कई सपने दिखाये, जो उसके यथार्थ से बहुत दूर थे। जब वास्तविक जीवन से उसकी पाला पड़ जाता है तो वह एकदम टूट जाती है और स्वयं एक त्रासद अंत स्वीकार करती है। कहानी की लड़की का त्रासद अंत वास्तव में असीमित इच्छा में बहकनेवाला मध्यवर्ग की परिणति है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि मध्यवर्गीय असीमित महत्वाकांक्षा उसके पतन का द्वार खोलता है। आदर्श एवं सिद्धांत के प्रति की जानेवाली उपेक्षा आगे का मार्ग भी बंद कर देता है।

मध्यवर्गीय विशिष्टताबोध

आर्थिक हैसियत के अलावा वर्गविशेष की अपनी मनोवृत्तियाँ, जीवनमूल्य एवं मान्यताएँ, होती हैं। वर्गविशेष की ये मान्यताएँ एवं जीवनमूल्य अन्य वर्गों को अलगाव की दृष्टि से देखने का निमित्त बन जाता है। इसका असर सामाजिक संरचना पर पड़ता है। सामाजिक संरचना को बिगाड़नेवाली ऐसी ही एक वर्गीय विशेषता है विशिष्टताबोध। यह विशिष्टताबोध वर्गीय सांस्कृतीकरण का परिणाम है और अपने से निम्न वर्ग के प्रति उपेक्षा भाव एवं कठोर रुख इसका स्वभाव है। यद्यपि

यह विशिष्टताबोध उच्चवर्ग में भी विद्यमान है तो भी मध्यवर्गीय विशिष्टताबोध उच्चवर्ग की अपेक्षा अधिक जटिल है। वह इसलिए कि यह धर्म, राजनीति, नैतिकता आदि क्षेत्रों से जुड़ी संकुचितता बनकर कई सांस्कृतिक विसंगतियों का बीज बोता है।

मध्यवर्गीय विशिष्टताबोध उच्चवर्गीय सभ्यतामूलक मानकों को अपनाने का परिणाम है। उच्चवर्गीय सभ्यता का आधार है पूँजी। सभ्यता के इस आधार को पाने के लिए मध्यवर्ग प्रयत्नरत है। इस होड़ में वह निजी कल्याण के आग्रह को निम्न वर्ग से जोड़कर नहीं देखता। आमआदमी से अलग होकर अपने आप को विशिष्ट समझनेवाला यह मध्यवर्ग निम्नवर्ग से किसी भी तरह जुड़ना अपना तौहीन समझता है। अखिलेश की 'मुक्ति' कहानी में सुभाष नामक पात्र की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति निम्नवर्गीय व्यक्ति से बदत्तर होते हुए भी वह अपना विशिष्टताबोध नहीं छोड़ता। रास्ते में मिले चौकीदार से वह बात करना चाहता था, लेकिन 'इज्ज़त' का ख्याल आते ही वह बात को टाल देता है। उसके लिए इज्ज़त का आधार सिर्फ पैसा है। इस पूँजी केंद्रित मानसिकता के संबंध में प्रेमचंद ने इसप्रकार कहा है - "कुलीनता और शराफत, गुण और कमाल की कसौटी पैसा और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है वह देवता स्वरूप है, उसका अंतकरण कितना ही काला क्यों न हो।"[1] मानवीय गुणों को पैसे से जोड़कर देखनेवाली मध्यवर्गीय मनोवृत्ति का दृष्टांत समाज में ही नहीं परिवारों में भी देखा जा सकता है। जब मध्यवर्गीय परिवार का कोई

1. निर्मल वर्मा और कमल किशोर गोयनका - प्रेमचंद रचना संचयन, 1994 - पृ. 793

व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से संपन्न नहीं बन पाता तो वह सभी परिवारवालों की नज़र में घृणा का पात्र बन जाता है, चाहे उसने कितने ही अच्छे काम किये हो। अखिलेश की 'मुक्ति' कहानी का सुभाष नामक पात्र इस सच्चाई का उदाहरण है।

भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में इस तरह वर्गगत विशिष्टताबोध क्यों बरकरार है? इसकी खोज देश की स्वाधीनता के संदर्भ में करना उचित है। देश की स्वाधीनता वास्तव में राजनीतिक क्षेत्र से जुड़ा एक हस्तांतरण मात्र था। जिसे स्वाधीनता कहती है उसमें संस्कृति की स्वाधीनता नहीं थी। संस्कृति की पराधीनता ने मध्यवर्ग को गुलाम ही रहने दिया। इस संस्कृति की दृष्टि में साधनहीन लोगों का कोई महत्व नहीं था। "आज़ादी के समय जो जागरण हुआ उसने जनमानस को झकझोरा लेकिन 'शूद्र' तक वह अक्षरज्ञान नहीं पहुँच पाया। राजनैतिक स्वतंत्रता के लक्ष्य को भी सांस्कृतिक जड़ता और विषमता को दूर करने के लक्ष्य के साथ नहीं जोड़ा गया। सामाजिक विषमता को मिटाने की बात जनसाधारण तक नहीं पहुँची, केवल संविधान में ही बंद रह गयी।"[1] इसलिए मध्यवर्ग ने लोकतंत्र को राजनीतिक गतिविधि के रूप में स्वीकार तो किया पर लोकतांत्रिक मूल्यों को आत्मसात नहीं किया। उसके मन में निम्नवर्ग के प्रति उपेक्षा भाव बना रहा। राजनीतिज्ञों ने भी लोगों के इस सांस्कृतिक पतन की ओर ध्यान न दिया और मध्यवर्ग के अनुकूल नीतियाँ बनती गयी। शंभूनाथ के अनुसार "विभिन्न सरकारों ने जनता के सांस्कृतिक

---

1. पूरन चंद्र जोशी अवधारणाओं का संकट, 1995 पृ. 38

उत्कर्ष को प्राथमिकता न दी और पार्टियों ने तत्काल समर्थन पाने के लिए केवल स्थूल आर्थिक हितों को उकसाया। विदेशों से सांस्कृतिक आदान-प्रदान, लोक और आदिवासी संस्कृतियों की नुमाइश, नृत्य-संगीत, सरकारी अनुष्ठानों में धार्मिक छौंक संस्कृति के उत्थान के प्रयत्न बस यहीं तक सीमित थे।"[1] फलतः यहाँ एक परजीवी संस्कृति का विकास हुआ। इसके फलस्वरूप मध्यवर्ग सर्वहारा के संघर्ष के प्रति ढुलमुल की नीति अपनायी। वह अपने भीतर से जागृत होते हुए भी बाहरी रूप से चेतना की बत्तियाँ बुझा दी। प्रसिद्ध समकालीन कवि धूमिल ने मध्यवर्ग की इस सुविधा जीविता की स्थिति का वर्णन, 'निकम्मी आदतों का लिहाफ ओढ़ना' कहकर किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्यवर्ग अपने निजी स्वार्थों के परे नहीं देख सकता है। इसलिए व्यवस्था में उसका हस्तक्षेप अपने समस्याओं के समाधान तक सीमित रह गया। दलित, शोषित लोग धीरे-धीरे उसकी आँखों से ओझल हो गये।

मध्यवर्गीय विशिष्टताबोध वास्तव में सामाजिक संवेदनशून्यता का ही एक रूप है। यह संवेदनशून्यता कभी राजनीतिक निष्क्रियता के रूप में सामने आती है। समकालीन कहानीकार गिरिराज किशोर की 'लालघर' कहानी का हरचरणसिंह सोढी नामक पात्र प्रखर गाँधीवादी है। आज़ादी के बाद वह मंत्री बन सकता था। पर बना नहीं। कहता था अपना काम आज़ादी के पहले था सो खतम हो चुका। गाँधीवाद को उन्होंने

---

1. राजकिशोर (सं) - भारत का राजनीतिक संकट, शंभूनाथ - संकट की सांस्कृतिक जड़ें (लेख), 1994 पृ. 131

चरखा कातने, रेशमी या ऊनी कपड़ा पहनने और शाम को गाँधी की धुन गाने में सीमित कर दिया। राजनीतिक अवगुण के संदर्भ में वह अपनी इस दायित्वहीनता को छिपाकर दूसरों की निंदा करते हुए कहता है - "क्या गाँधी-गाँधी लगा रखी है। कहाँ है गाँधी - तुम लोगों ने गाँधी को मारा है। अब गाँधी-गाँधी चिल्लाते हो। कैसा गाँधी।"[1] गाँधी के आदर्शों की समाप्ति में उसकी निष्क्रियता कहीं भी सामने नहीं आती। मध्यवर्ग देश को गरीबों का प्रमुख हितैषी मानता है। देश द्वारा गरीबों की जिम्मेदारी उठाने का मतलब है किसी प्रकार के त्याग से मध्यवर्ग का बचना। वह देश के नाम पर अपनी जिम्मेदारी से कतरा सकता है। इस उत्तरदायित्वहीनता को वह राजनीतिक निंदा के बहाने छिपाता है। फलतः मध्यवर्गीय आलोचना हमेशा इस बिंदु पर केंद्रित होता है कि देश हमारा बेहतर हित साधन क्यों नहीं कर सकता। यह आलोचना दोषपूर्ण है क्योंकि यह देश की ख़ामियों को दूर करने के लिए कोई संगठित कदम उठाने की इच्छा को प्रेरित नहीं करती। परिणाम यह होता है कि देश की दुरवस्था के संदर्भ में मध्यवर्ग अपनी निष्क्रियता को भूलकर राजनीति के क्षेत्र में विद्यमान मूल्यविघटन एवं सिद्धांत शून्यता का रोना रोता है।

मध्यवर्ग की संकुचितता एक ओर निम्नवर्ग के प्रति उपेक्षा भाव रखता है तो दूसरी उसे सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करता है। खुशहाल मध्यवर्गीय लोग निम्नवर्ग की हमदर्दी का स्वांग रचते हैं और ताकत एवं सुविधाएँ अर्जित करते हैं। अधिकार और सुविधाएँ भोगने के लिए

---

1. गिरिराज किशोर यह देह किसकी है, लालघर, 1990 पृ. 31

राजनेताओं, सरकारी अधिकारियों और मध्यवर्ग के मुखर सदस्यों के बीच एक तालमेल बना है। विवेकीराय ने अपनी कहानी 'अपना हाथ जगन्नाथ में' इस गँठजोड़ एवं उसकी भीषण परिणति का चित्रण किया। बाढ़ में गिरे घुरहू का घर बनवाने के लिए सरकार पैसे देती हैं। लेकिन उस रकम से घुरहू कभी भी एक पक्का घर नहीं बना सकता था। सरकार उसे पूरा घर बनाने का रकम देने के लिए तैयार नहीं है। क्योंकि हर बार उसका घर बाढ़ में गिरना है ताकि इसका फायदा 'नीतियाँ' बनानेवाले उठा सकें। "कलक्टर साहब ने कहा है कि एक साल घर गिरने पर नहीं, भरपूर सहायता लगातार तीन साल गिरने पर मिलेगी, तो कुछ उठा दो माटी का और गिर जाने दो। समय जाते देर नहीं लगती है। तीन साल हो जाने पर जो पैसा दिलवाऊँगा, उसी में यह रुपया सूद समेत मिलाकर स्वयं मैं तुम्हारा घर बनवा दूँगा।"[1]

मध्यवर्ग, अधिकारियों एवं राजनेताओं के इस गठजोड ने कई सरकारी नीतियों को अपने पक्ष में मोड़ लिया। भारत का इतिहास यह बात स्पष्ट कर देता है। भारत भूमिहीन व सीमांत किसानों की बहुसंख्यावाले एक कृषि प्रधान देश था। स्वतंत्रता के बाद के शुरूआती वर्षों में इनके विकास के लिए आवश्यक योजनाओं पर ज्यादा बल देना था। बाढ़ नियंत्रण, जैव अनुसंधान, कृषि संबंधी विस्तार, लघु-उद्योगों के प्रोत्साहन के माध्यम से गैर-खेतिहर को रोज़गार देने तथा ग्रामीण क्षेत्रों में सरकारी योजनाएँ बना सकता था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ क्योंकि मध्यवर्ग के

---

1. विवेकीराय सर्कस (सं), अपना हाथ जगन्नाथ, 2005 पृ. 58

मुखर लोगों को ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ कम रुचि थी। उनके सपने औद्योगिक प्रगति पर केंद्रित था। इसलिए इन लोगों ने विकास का जो मॉडल बनाया वह ऊपर से नीचे की तरफ थी। ये लोग मानते थे कि औद्योगिक प्रगति का लाभ प्रकारांतर से कृषि क्षेत्र को भी मिलेगा। इसलिए औद्योगिक प्रगति पर ज्यादा ध्यान देना उचित है। परिणाम उद्योगों के पक्ष में झुकी हुई अर्थनीति तैयार की गई और कृषि और सामुदायिक विकास को उपेक्षित किया गया। पवन कुमार वर्मा ने इस संबंध में लिखा है - "The consequence of such a bias in favour of industry contributed to the neglect of agriculture: in a country where eighty percent of the people, and the overhelming bulk of the poor, were agriculturists, the allocation for both agriculture and community development in the first three five year plans did not exceed fifteen percent of the total outlay."[1] जिसके लिए नीतियाँ बनायी जानी थीं वह उपेक्षित रह गया। उसके नाम पर अगर नीतियाँ बन भी गयी तो भी उसे इसका फायदा नहीं मिलता। मध्यवर्ग की सामाजिक संवेदनशून्यता से युक्त यह सामंती चेष्टा देश की सबसे बड़ी समस्या है। इसके पीछे की मध्यवर्गीय मानसिकता के संबंध में राजकिशोर ने लिखा है "लेकिन भारत का मध्यवर्ग एक औपनिवेशिक व्यवस्था की देन है। अतः भारत की जनता के साथ उसका संबंध भी औपनिवेशिक है। अतः हमारे मध्यवर्ग की आधुनिक

---

1. Pavan K. Varma - The great Indian Middle Class, 1998 - P. 53-54

और प्रगतिशील चेष्टा भी अंततः सामंती और प्रतिक्रियावादी साबित होती है। उसके आदर्शवाद में भी स्वार्थ छिपा होता है - एकदम निजी स्वार्थ।"[1] देश की प्रतिभा द्‌वारा स्वीकृत यह मार्ग कुछ लोगों को भयावह रूप से संपन्न बनाता है और शेष लोगों को भयावह रूप से विपन्न।

विशिष्टता का आग्रह जब सफल नहीं होता तो व्यक्ति या तो अंतर्मुखी बन जाता है या आक्रामक। ऐसे ही एक पात्र है महीपसिंह की 'धुंधले चेहरे' की अस्थाना साहब। अस्थाना साहब, जो अध्यापक थे, अपने छात्र, जो अब एक बड़ा नेता है, को देखकर अपने आप को छिपाना चाहते हैं। क्योंकि एक सेकंड क्लास के अनरिजर्व्ड डिब्बे में जगह लेने की प्रतीक्षा में खडे रहते हुए वे अपने आप को हीन और छोटा अनुभव कर रहे थे। मध्यवर्ग का यह हीनताबोध वास्तव में समाज में प्रचलित धन केंद्रित विशिष्टताबोध का ही परिणाम है।

इस संदर्भ में यह सवाल उठ सकता है कि इस विशिष्टताबोध के उन्मूलन का उपाय क्या है? विशिष्टताबोध के उन्मूलन का उपाय उसके अस्वीकार की द्वैतवृत्ति में नहीं बल्कि उसकी विशिष्टता की समाप्ति में है। विशिष्टता की समाप्ति के लिए मध्यवर्ग को अपना उच्चवर्गीय स्वप्न को छोड़कर निम्नवर्ग की संघर्षशील शक्तियों से अपने आपको जोड़कर देखना चाहिए। खुद उसकी मुक्ति भी इसीसे ही संभव है। अखिलेश की 'मुक्ति' कहानी का सुभाष भी अंत में इस सत्य को पहचान लेता है। "सुभाष को लोग किसानों और मज़दूरों की मुक्ति के लिए काम करनेवाला

---

1. राजकिशोर एक भारतीय के दुख, 2004 पृ. 12

कहने पर वह कहता है कि 'मैं अपनी मुक्ति के लिए यह सब कर रहा हूँ। मज़दूरों और किसानों की मुक्ति से अलग नहीं है हम सब की मुक्ति।"[1]

बढ़ती धार्मिक कट्टरता

स्वतंत्रता के बाद भारत ने धर्मनिरपेक्षता को राष्ट्रवाद की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया है। पर यहाँ का मध्यवर्ग धर्म की भूमिका को धर्मनिरपेक्षता तक सीमित करने के लिए तैयार नहीं था। इसका कारण था धर्म उसके लिए विश्वास का साधन मात्र नहीं था, बल्कि संस्कार का हिस्सा भी था। धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत आस्तिकता का फैशनेबल विरोध बनकर रह गया। यह बात सही है कि धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य धर्म न होने की अवस्था नहीं बल्कि धर्म के नाम पर भेदभाव न करने की भावना है। लेकिन मध्यवर्ग धर्मनिरपेक्षता को इस अर्थ में स्वीकार न कर सका। रूढ़ धर्म के प्रति उसकी रुचि बढ़ती ही गयी। मध्यवर्ग के लिए धर्म जीवन का आधारभूत हिस्सा क्यों बन रहा है? भौतिक साधनों के पीछे की दौड़ ने कुटुंब और उससे जुड़ी भावनाओं को कमज़ोर कर दिया है। इससे कुटुंब से मिलनेवाली सुरक्षा का बोध नष्ट हो गया। धर्म व्यक्ति के समुदाय बोध को पुनर्जीवित करता है। इसलिए व्यक्ति धर्म में सुरक्षा की तलाश करता है। लेकिन धर्म जब रूढ़िवादिता, संप्रदाय और मज़हबी जुनून का प्रतीक बन जाता है तो धर्म में सुरक्षा की तलाश एक संकट की स्थिति का कारण बनता है। तब धर्म प्रदत्त सुरक्षा से वंचित न होने की इच्छा व्यक्ति को कट्टरपंथी एवं निष्करुण बनाती हैं। नासिराशर्मा

---

1. अखिलेश मुक्ति, 2001 पृ. 67

की कहानी 'पाँचवाँ बेटा' की अमतुल के चार बेटे हैं जो दूर रहते हैं। अब उनके बीच सिर्फ मनीओडर का ही संबंध है। सुलाखी पडोस का हिन्दू युवा है जो अमतुल को अपनी माँ के समान मानता है। अमतुल यह जानती है। फिर भी वह सुलाखी की नेकी को सबके सामने मानने के लिए तैयार नहीं होती। इमामबाडे की छत को बनाने को लेकर रहमान के उपेक्षा भाव को और इमामबाडे को बारिश में भीगने से बचानेवाले सुलाखी के प्यार को वह एक ही पैमाने से आँकती है। वह बताती है - "पैमाना मेरा बनाया हुआ नहीं है, बल्कि पुरखों के वक्त से चला आ रहा है।"[1] यह पैमाना उसे सुलाखी के प्रति उभरी अपनी ममता को रोकता है। इसलिए सुलाखी के प्रति अमतुल के मन का प्यार शबे आशूरा के रेडियो प्रोग्राम में मासूम असगर की पीड़ा के विवरण से प्रकट होनेवाली आँसू में परिवर्तित होता है। "भोली-भाली पोती को क्या पता कि हर चीज़ को बदलने का एक समय होता है। तभी तो अमतुल अपनी नादानी से शर्मिंदा हो पुराने गम में नया गम मिला रही है, जिनके चार लड़के शहर की भीड़ में खो गये हैं। उन्हें ढूँढने में उसे होश ही न रहा कि पाँचवाँ जो पास में है उसे समझती। अब शुक्राने के इन आँसुओं को पोती नहीं समझ सकती है।"[2] यहाँ धार्मिक सुरक्षा की तलाश सामाजिक संकुचितता के रूप में प्रकट होती है। धर्म में सुरक्षा को तलाशनेवाले मध्यवर्ग की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं।

---

1. ममता कालिया (सं) - नयी सदी की पहचान श्रेष्ठ महिला रचनाकार, नासिरा शर्मा - पाँचवाँ बेटा, 2002 पृ. 78
2. ममता कालिया (सं) - नयी सदी की पहचान : श्रेष्ठ महिला रचनाकार, नासिरा शर्मा - पाँचवाँ बेटा, 2002 पृ. 78

सामाजिक समरसता का अभाव भी मध्यवर्ग की बढ़ती धार्मिक कट्टरता का एक कारण है। धर्म केंद्रित राजनीति करनेवाले लोग इस संकुचितता का फायदा उठाते हैं। सांप्रदायिक राजनीति के जाल में फँसकर उसके हाथ की कठपुतली बनकर नष्ट होनेवाले युवक का चित्रण सुधा अरोड़ा ने 'दमनचक्र' नामक कहानी में किया है। कहानी में दमनचक्रवर्ती नामक युवक के समाज में कुछ बनने की इच्छाएँ हालातों की वजह से कुंठित होती हैं। बाद में वह सेल्स मैन बनता है और साथ ही उसने एक क्लब की शुरूआत भी की। कई रईसों के लड़के जब क्लब के सदस्य बने तो दमनचक्रवर्ती की भागीदारी सिर्फ चंदा बटोरने और ऊपरी दौड़-भाग करने तक सीमित हो गयी। दमनचक्रवर्ती का पतन यहीं से शुरू होता है। एक आदर्श नेता बनने की इच्छा रखनेवाला दमनचक्रवर्ती अब दुर्गापूजा के जुलूस में बिजली की सजावट के लिए चंदा इकट्ठा करने के लिए गरीबों पर अत्याचार करने तक तैयार हो जाता है। अंत में जुलूस निकलता है। पर यह एक ऐसा जुलूस है जिसकी चमक-धमक और शोर-शराबा में मानवीयता की चीख तक के लिए भी कोई जगह नहीं है। मध्यवर्ग के इस रवैये के संबंध में शंभूनाथ ने लिखा है "भारतीय मध्यवर्ग के लोग सीमांत मनुष्य हैं - सीमा पर रहनेवाला मनुष्य। वे जब अपनी फूट, रूढ़ियों और संकीर्णताओं से बेचैन हो उठते हैं, सीमा की दूसरी तरफ भागते हैं जहाँ संपूर्णता की चेतना है। वे किसी धर्म, जाति और क्षेत्र का होकर भी सबसे पहले अपने को भारतीय महसूस करते हैं। ....सीमांत मनुष्यों की 'संपूर्ण चेतना' को जब पर्याप्त सामाजिक-आर्थिक पोषण नहीं मिलता और उनके सपने चकनाचूर होते हैं, लोग सीमा पार

कर पुनः खंड चेतना में लौट आते हैं। कभी अपने धार्मिक संप्रदाय, कभी अपनी जाति, कभी अपने क्षेत्र, कभी अपनी भाषा का रास्ता पकड़ते हैं।"[1] मध्यवर्ग का यह रवैया धर्म आधारित राजनीति करनेवाले संगठनों के विकास का समर्थन करने अथवा उसके खिलाफ कदम न उठाने की मनोवैज्ञानिक रुझान का आधार बना। शहरी मध्यवर्गीय मतदाताओं द्‌वारा सांप्रदायिक राजनीति को मिलनेवाला समर्थन इस बात को प्रामाणित करता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि मध्यवर्ग के लिए धर्म एक सुरक्षा केंद्र है। जब तक उसका सामाजिक माहौल सुरक्षित नहीं है तब तक वह संकुचित धार्मिक धारणाओं में रुचि दिखाता रहेगा। धर्म को अपने वास्तविक उदात्त अर्थ में स्वीकारने में कहीं भी कोई दोष नहीं। लेकिन मध्यवर्ग ने कभी भी इस बौद्धिक बारीकी को पकड़ने का प्रयास नहीं किया। कई धार्मिक दर्शन उसके लिए कर्मकाण्ड तक सीमित है। इसलिए उसका धार्मिक आचरण एक बिंदु पर आकर अनैतिक बनता है और सुलाखी और दमनचक्रवर्ती जैसे पात्रों की मानवीयता को नष्ट करता है। मध्यवर्ग और धर्म के बीच का यह संबंध सबसे खतरनाक है।

मध्यवर्गीय अप्रतिरोधी मानसिकता

मध्यवर्गीय जीवन अक्सर अपनी बनायी हुई पूर्व मान्यताओं के मुताबिक संचालित होता है। इसका यह मतलब नहीं है कि उसमें अपने

---

1. राजकिशोर (सं) - भारत का राजनीतिक संकट, शंभूनाथ - संकट की सांस्कृतिक जड़ें (लेख), 1994 पृ. 130-131

दायरे से बाहर जाने की क्षमता नहीं है। मध्यवर्ग कभी-कभी ऊर्जावान विचारधारात्मक धरोहर से जुड़ जाता है। जब-जब मध्यवर्ग वैचारिक प्रतिबद्धता से अभिभूत हुआ है तब यहाँ बडे-बडे सामाजिक-सांस्कृतिक कर्मियों का जन्म हुआ है। इन लोगों ने अपने चरित्र बल से मध्यवर्ग के स्वार्थ के दायरे एवं पूँजीवादी व्यवस्था को तोड़ने का प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्हें कई बार सफलता मिली है तो भी इससे अधिक बार वे असफल भी हुए हैं। इनकी असफलता का क्या कारण है? मध्यवर्ग में उच्च विचारधाराओं की कमी नहीं है। फिर भी मध्यवर्ग की एक खासियत यह है कि उसे जिस नैरंतर्य में अपना स्वार्थ दिखता है उसमें नुकसान न पहुँचाने की इच्छा है। इसलिए वह बड़े-बड़े सिद्धांतों एवं विचारधाराओं से प्रभावित होकर भी उसे अपने आचरण में नहीं उतारता। आधुनिक भावबोध के प्रस्तुत मूल्यों की स्वीकृति के संदर्भ में यह बात स्पष्ट होती है। आधुनिक भावबोध मध्यवर्गीय जीवन में स्वतंत्रता और समता की नई-नई अवधारणाएँ लेकर आया था। आधुनिक होने के आवेग में मध्यवर्ग ने इसे मान्यता दी। लेकिन मध्यवर्ग की दृष्टि-संकुचितता आधुनिकता की गतिविधियों को अपनाने के लिए तैयार नहीं थी। जब यह प्रगतिशील विचारधाराएँ मध्यवर्ग में दिखाई पड़नेवाली वर्चस्ववादी धारणाओं के खिलाफ खड़ी होती हैं तब उसे नियंत्रित करने का प्रयास होता है। स्त्री स्वतंत्रता के संदर्भ में मध्यवर्ग द्‌वारा स्वीकृत धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में इसका विश्लेषण करना उचित होगा। मध्यवर्ग ने अपने आधुनिक भावबोध के कारण स्त्री स्वतंत्रता के सिद्धांत को बढ़ावा दिया। लेकिन व्यवहार में उसने सीमित स्वतंत्रता को ही वास्तविक स्वतंत्रता की अवधारणा के रूप

में प्रस्तुत किया। मेहरुन्निसा परवेज़ ने अपनी 'सज़ा' कहानी में स्त्री के संदर्भ में स्वीकृत छद्म स्वतंत्रता की धारणाओं का खुलासा किया है। इसमें उमा को पढ़ने, स्कूटर में घूमने और नौकरी करने तक की स्वतंत्रता है। लेकिन जब वह अपने इच्छानुसार अपना पति चुनती है तो उसे घर से, रिश्ते से, दिमाग से, फिर यादों तक से निकाल दिया जाता है। घर, रिश्ते और दिमाग सब ऐसी जगह हैं जहाँ वर्चस्ववादी धारणाओं के कण सुरक्षित हैं। अब सवाल यह है कि मध्यवर्ग में इन वर्चस्ववादी धारणाओं को स्थायित्व कैसे मिलता है? मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए सामाजिक सुरक्षा की इच्छा हर एक के मन में विद्यमान है। यह बुनियादी इच्छा अब वर्चस्ववादियों के हाथ का हथियार बनती है। जो लोग स्वतंत्रता की बनी-बनायी या स्वीकृत धारणा से बाहर जाते हैं उन्हें वे परिवार और समाज से बरखास्त कर सामाजिक असुरक्षा के कैद में डाल देते हैं। 'सज़ा' कहानी की उमा इस असुरक्षा का शिकार है - "दीदी, तुम सोचती हो, मैं इस घर से चली गई थी? नहीं, मैं तो इन्हीं किवाड़ों से लगाकर बरसों और गरमी, यानी हर मौसम में मैं यहीं बाहर खुले में खड़ी रही। उसने चौंककर उमा को देखा और सोचने लगी, उमा को दी गई सज़ा क्या किसी आजन्म कैद से कम थी?"[1] मध्यवर्गीय स्त्री जिसे सामजिक सुरक्षा के दायरे में रहने की आदत है वह जल्दी ही इन वर्चस्ववादी धारणाओं के अधीन में जीने के लिए तैयार हो जाती है। इसप्रकार सीमित सुरक्षा को ही वास्तविक सुरक्षा मानने के लिए वह

1. मेहरुन्निसा परवेज़ अम्मा (सं), सज़ा, 1997 पृ. 27

विवश बन जाती है। जो इस दायरे का उल्लंखन करती है वह कुल्टा कहलाती है। मेहरुन्निसा परवेज़ ने इस संबंध में लिखा है - "औरत का बोलना समाज ने, घरवालों ने कभी पसंद नहीं किया। औरत चुप अच्छी लगती है, जैसे देवी का रूप। सबको वह टुकुर-टुकुर देखती रहे मूरत की तरह, तो सब उसका आदर करते हैं, पूजा करते हैं। मीराबाई जब बोलने लगी, उसके शब्द जब भजन बनते गये तो वह समाज पर, परिवार पर भारी पड़ने लगी। उसे अपनों ने, अपने घर से बेदखल कर दिया। वह दर-दर भटकती रही, पर बाहर आकर भी सुख नहीं मिला, घरवालों की इच्छा पर जहर का प्याला पीना पड़ा। औरत जब घर छोड़ती है तो कुल्टा कहलाती है, पर जब पुरुष घर छोड़ता है तो बैरागी, साधु, भगवान्, महान पुरुष कहलाता है, जैसे तुलसीदास, भगवान बुद्ध। औरत केवल मीराबाई बनकर रह जाती है।"[1]

सीमित स्वतंत्रता में वास्तविक सुरक्षा का बोध जगाने का यह प्रयास वास्तव में एक समस्या है। यह समस्या तब और गंभीर बनती है जब क्रांति की अग्रगामी शक्तियाँ भी इस विवशता का शिकार बनती हैं। 'सज़ा' कहानी की उमा का घर लौटना वास्तव में छद्‌म स्वतंत्रता की सीमित दायरे को फिर से स्वीकारने की मनोवृत्ति का सूचक है। विकासशील विचारों की इस अवरुद्ध अवस्था की ओर कहानी में इसप्रकार संकेत किया है "चील चाहे मीलों चक्कर लगाकर अपना दायरा बढ़ा ले, पर

---

1. मेहरुन्निसा परवेज़ सोने का बेसर, भूमिका, 1991 पृ. 8

वह उसी दायरे से वापस अपने उसी बिन्दु पर पहूँचती है, जहाँ से उसने चलना शुरू किया था। उमा भी उसी मोह में बँधी घर लौटी थी।"[1]

विकासशील विचारों के अवरुद्ध होने का संदर्भ बहुत व्यापक है। सामाजिक सुरक्षा की तरह सामाजिक संतुलन का मापदण्ड भी प्रतिगामी शक्तियों के हाथ का हथियार है। जब कोई व्यक्ति मध्यवर्गीय मान्यताओं के खिलाफ कोई आदर्श प्रस्तुत करता है या प्रचलित मध्यवर्गीय धारणा का विरोध करता है तो उसे उच्छृंखल, हठीला, एबनोर्रमल आदि घोषित करके उसे सामाजिक रूप से असंतुलित लोगों की दायरे में धकेलकर उसके कार्यक्षेत्र को सीमित करता है। चंद्रकांता की 'ओ सोनकिसरी' कहानी की सोना लोककथा की सोनकिसरी की तरह स्वाभिमानी है। किसी के आगे सिर झुकानेवाली नहीं है। हर अन्याय का खुला विरोध करनेवाली है। फिर भी वास्तविक जीवन में सब लोग उसे लोककथा की सोनकिसरी की तरह स्वाभिमानी नहीं मानते, बल्कि हठीली एवं एबनोर्मल मानते हैं। अन्याय के खिलाफ प्रतिक्रिया करनेवाली लेखिका की स्थिति भी सोनकिसरी से बेहत्तर नहीं है। चन्द्रकांता ने अपने जीवन के संबंध में लिखा है - "गलत का मैं ने सदा विरोध किया, घर में भी बाहर भी। यहाँ तक कि बनिये को कम तौलने और दूधवाले को दूध में पानी मिलाने पर भी मैं ने नाराज़गी ज़ाहिर की। घर में बच्चों बुजुर्गों से लेकर सामने पार्क में फूल तोड़ते बच्चों को भी सही-गलत पर टोका। नतीजा तो खैर यही निकला कि अमुक महिला तेज़ है, गुस्सेवाली है, कहीं शायद सिरफिरी

---

1. मेहरुन्निसा परवेज़ अम्मा (सं), सज़ा, 1997 पृ. 27

और बेअदब भी। लेकिन आज तक वही आदतें बनी हैं।"[1] प्रगतिशील विचार को यहाँ अस्वाभाविक माना गया है। क्यों? हमारे समाज में मध्यवर्गीय स्वार्थ रूपी प्रतिगामी मान्यताओं ने स्वाभाविकता का रूप ले लिया है। समाज में ये मध्यवर्गीय स्वार्थी धारणाएँ अपने विकृत रूप में ही नहीं अलकृत रूप में स्थित है। ऐसी स्वार्थी धारणाएँ अपने अवांछित पक्ष को उच्चमूल्यों एवं विचारों के पीछे छिपाती हैं, ताकि वह स्वाभाविक दिखें। मान-मर्यादा ऐसा ही एक उच्च विचार है जिसका इस्तेमाल मध्यवर्ग मनमाने ढंग से करता है। उदाहरण के लिए शादी के अवसर पर दहेज माँगना अनुचित है ऐसे माननेवाले कई लोग हैं। लेकिन जब ठीक इसी बात को लड़कीवालों की प्रस्टीज से जोड़कर उठाया जाता है तो यह किसी को भी अस्वाभाविक नहीं लगता। यहाँ दहेज प्रथा को मान-मर्यादा का आवरण मिला है। 'ओ सोनकिसरी' की सोना ही़रे की सेट पाने की इच्छा को प्रस्टीज से जोड़कर प्रकट करनेवाली दुल्हन की सास से इसके विरोध में जब कहती है - "हाँ प्रस्टीज ही तो है। कोई हाथी पर चढ़कर माँगता है, कोई झोली पसारकर। माँगते तो सभी है।"[2] तो यह बात खुद लड़कीवालों को भी अस्वाभाविक और अनुचित लगती है। यहाँ एक विसंगति को बहुत स्वाभाविक मान लिया है। इसलिए सबको प्रगतिशील विचार अस्वाभाविक ही लगता है।

व्यवस्था विद्रोह पर अनुचितता एवं विवेकहीनता का आक्षेप मध्यवर्ग को समझौतावादी बना देता है। मध्यवर्ग द्‌वारा अनैतिक अवस्था

1. चन्द्रकांता सूरज उगने तक भूमिका, 1994 पृ. 11
2. चन्द्रकांता ओ सोनकसरी, 1991 पृ. 159

के प्रति अपनाये जानेवाला यह समझौतावाद वर्चस्ववादी समाज के नीड़ को सुदृढ़ बनाता है। इससे निरीहों की दयनीय दास्तान की शुरूआत होती है। क्योंकि इससे यह लोग प्रतिरोध करने के हक भी खो बैठता है। चित्रामुद्गल की 'प्रेतयोनि' कहानी की अनिता गुप्ता को उसके परिवारवालों ने इसलिए घर में कैद रखा है कि उसने अत्याचार करनेवाले टैक्सी ड्राइवर के खिलाफ पुलिस में रिपोर्ट दर्ज करवायी थी। इस हादसे को अनिता के घरवाले मान-मर्यादा के नष्ट होने के डर से दबाना चाहते हैं। "यह कौन से बाबूजी है? इस अपरिचित व्यक्ति को तो उसने कभी देखा ही नहीं। उसके धर्मभीरू, असत्यभीरू बाबूजी की काया के किस कोने में दुबका बैठा रहा यह कायर व्यक्ति, जो निःसंकोच झूठ पर झूठ गढे जा रहा है मान-मर्यादा के रूढ मानदण्डों की रक्षा के लिए।"[1] अन्याय के प्रति मध्यवर्ग की यह मूकता उसके व्यक्तित्व को बौना बनाती है।

वर्चस्ववादी व्यवस्था के प्रतिरोध के बजाय मध्यवर्ग द्वारा समझौतावाद को अपनाने का एक और कारण भी है। समझौताविहीन व्यक्ति व्यवस्था द्वारा कुचल दिया जाता है। मध्यवर्गीय प्रतिबद्ध रचनाकार - जो अंतर्विरोधी व्यवस्था से समझौताविहीन संघर्ष करते हैं - वे व्यवस्था द्वारा कुचल दिये जाते हैं। उनकी रचनाधर्मिता पर अनैतिकता और विवेकहीनता का आरोप लगाया जाता है। व्यवस्था इन रचनाकर्मियों को जीते जी सम्मानित नहीं होने देती। रचना और रचनाकारों की यह स्थिति वास्तव में मानवताबोध की ही अवस्था है। स्वयंप्रकाश ने 'सम्मान' कहानी

---

1. चित्रांमुद्गल जिनावर (सं), प्रेतयोनी, 1996 पृ. 14

में इसका चित्रण किया है। इसमें प्रशांतजी एक ईमानदार स्थानीय कवि हैं। जीते जी उन्हें किसी ने सम्मानित न किया। जब उनकी मृत्यु हुई तब सम्मान पाने के लिए उनकी लाश को बीच सड़क पर मंत्री के इंतज़ार में घंटों पड़ा रहना पड़ा। मंत्री को प्रशांतजी में कोई दिलचस्पी नहीं है बल्कि वह अपने आपको संवेदनशील दिखाना चाहता है। ऐसे मंत्री और चील में कोई अंतर नहीं है। - "मुरदे को प्रतीक्षा करनी होगी। मुख्यमंत्री का हवाई जहाज़ अभी उतरा नही है। मुरदा प्रतीक्षा कर रहा था। सन्नाटे में बहुत ऊपर आसमान में कोई चील बोली।"[1] व्यवस्था की अमानवीयता के खिलाफ उठनेवाली मानवीयता की हर आवाज़ को इस तरह ज़लील किया जाता है। सामाजिक प्रतिबद्धता से युक्त किसी भी मध्यवर्गीय स्वर को इसप्रकार दबा दिया जाता है।

आधुनिकता के झूठे चोंचले

मध्यवर्ग का आधुनिकता एवं आधुनिक प्रगतिशील मूल्य से संबंध कैसा है? मध्यवर्ग के लिए आधुनिकता - जिसमें प्रगतिशील मूल्य है वास्तव में एक जीवन शैली है। इस जीवन शैली को अपनाना मध्यवर्ग की मज़बूरी थी। क्योंकि इस जीवन शैली को प्रगतिशीलता का पर्याय माना जाने लगा था। मध्यवर्ग ने प्रगतिशील बनने की इच्छा से इस जीवन शैली को अपना तो लिया था लेकिन उसके जीवनबोध से कोई संबंध न रखता था। राजकिशोर ने इस संबंध में लिखा है - "यह भारत की आधुनिकता की विडंबना है। यह आधुनिकता जीवन शैली तक सीमित है - जीवनबोध

---

1. स्वयं प्रकाश आदमी जाता का आदमी (सं), सम्मान, 1994 पृ. 71

को प्रभावित नहीं करती। इसलिए हमारे बीच प्रायः वे सभी समस्याएँ मौजूद हैं, जो इस शताब्दी के शुरू में हमारे पाँवों की जंजीर थी। अस्पृश्यता तक से हम पीछा नहीं छुड़ा पाये हैं। भारतीय जीवन के कई क्षेत्रों में यह विरोधाभास है कि ऊपर से हम जितने आधुनिक हैं, भीतर से उतने ही सामंती हैं। इसीलिए समाजवाद का हमारा उद्यम विफल रहा।"[1] भारत में समाजवाद की विफलता के लिए आधुनिक विचारों को जीवनशैली तक समित रखनेवाला मध्यवर्ग ही जिम्मेदार है। मध्यवर्गीय परिवार किस प्रकार समता का स्वाँग रचते हुए भी वर्गगत अंतर को बनाया रखता है इसका चित्रण गिरिराज किशोर ने अपनी 'सर्वेण्ड क्वाटरिये' शीर्षक कहानी में किया है। बहादूर अपनी पत्नी और बच्चों के साथ सर्वेण्ड क्वाटर में रहता है। बहादूर का परिवार पडोस के मेमसाहब और साहब के परिवार के काफी करीब है। बहादूर के बच्चे साहब और मेमसाहब को पापा मम्मी बुलाते थे और हर समय उनके घर में उनके बच्चों के साथ रहते थे। लेकिन जब बहादूर के बच्चे उनके बच्चों के साथ टेबुल पर बैठकर खाना खाने को ज़िद करते हैं तो बातें पलट जाती है। अपने को मम्मी-पापा तक कहने की छूट देनेवाले इन लोगों को बच्चों का टेबुल में साथ बैठकर खाना बुरा क्यों लगा? यहाँ आकर उनकी उदारता विश्लेषण की माँग रखती है। आखिर मध्यवर्ग वर्गगत समानता को कहाँ तक स्वीकारने के लिए तैयार है? जब तक समता की बात उसके रहम पर आधारित है तब तक उसे स्वीकार्य है। समता को निम्न वर्ग के हक के

---

1. राजकिशोर एक भारतीय के दुःख, 2004 पृ. 30

रूप में मानने के लिए वह तैयार नहीं है। क्योंकि इस बोध का सीधा असर मध्यवर्ग की सुविधाओं पर पड़ता है। मध्यवर्गीय स्वार्थ इन सुविधाओं को खोने के लिए कदापि तैयार नहीं। इसलिए वह निम्नवर्ग के संदर्भ में वर्गगत अंतर के बोध का बीज बोता है। वर्गगत अंतर जिसका आधार अर्थ व्यवस्था है इससे जुड़कर उच्चता एवं हीनता का बोध पनपता है। मध्यवर्गीय उच्चताबोध निम्नवर्ग से स्पष्ट अलगाव की वकालत करता है। प्रस्तुत कहानी में जब मेमसाब और साहब का बेटा अनय जब बहादुर के बच्चों के स्कूली दाखिले के संबंध में पूछता है तो घरवालों की प्रतिक्रिया इस उच्चताबोध को स्पष्ट करती है। अनय पूछ बैठा 'अगर हमारे पापा भी सर्वेण्ड क्वाटर में रहते तो क्या हमारा दाखिला भी इस स्कूल में न हुआ होता?' आखिरी वाक्य मुँह से निकलते ही मुँह पर चपत पड़ा था। उसे अभी इतनी समझ नहीं थी कि खाते-पीते और उच्च या किसी भी तरह के मिडिल क्लास के लिए ऐसा कहना गाली से भी बढ़कर होता है।"[1] यहाँ अर्थगत असमता केवल अर्थ स्तर तक सीमित नहीं, बल्कि चेतना की असमता तक फैलकर जड़ जमाई हुई है। निम्नवर्ग के संदर्भ में मध्यवर्ग इस असमता को बनाया रखता है। आधुनिकता द्वारा लाया गया समता जैसे उच्चतर मूल्य यहाँ उपेक्षित रहता है।

महुआ माजी की 'रॉल मोडल' कहानी में कुछ लड़कियाँ - जो पढ़ने के लिए आयी थीं किराये के मकान में रहने लगती हैं। उनका रहन-सहन मुहल्लेवालों से बिल्कुल भिन्न था। जिन-जिन घरवालों के

---

1. गिरिराज किशोर यह देह किसकी है (सं), सर्वेण्ड क्वाटरिये, 1990 पृ. 135

पास कमरा खाली था उन लोगों ने लड़कियों को रहने की जगह दी और इससे मिलनेवाली अधिक आमदनी की सुविधाओं का फायदा भी उठाया। पर जिनके पास किराये पर देने के लिए कमरे नहीं थे उनकी हालत के संबंध में लेखिका लिखती है - "जिन-जिन लोगों के घर पर किराये में देने लायक कमरा नहीं वे सब परेशान हैं इन बाहरवाले लड़के-लड़कियों से, 'बर्बाद कर दिया मुहल्ले का माहौल खराब करके रख दिया। कितना गलत असर पड़ रहा है हमारे बच्चों पर।"[1] अगर इसके पास कमरे होते तो उन्हें मुहल्ले के खराब होने की चिंता न होते। तब वे उन अयाचित स्थितियों के प्रति आँख मूँदने के लिए तैयार भी हो जाते। मध्यवर्ग की यह दृष्टि अस्थिरता वास्तव में उसकी मूल्य अस्थिरता का प्रतिफलन है। मध्यवर्ग में यह मूल्य- अस्थिरता क्यों है? मध्यवर्ग के लिए कोई मूल्य तब तक ही प्रिय है जब तक इससे उसका कोई स्वार्थ सिद्ध हो। अपने स्वार्थ के लिए वह इन मूल्यों का इस्तेमाल भी करता है। प्रस्तुत कहानी में एक पति, जो साली के कपड़ों के भीतर देखने का बहाना करनेवाला है और पत्नी, जो किसी भी मर्द से जुड़ने की कोशिश करनेवाली है, वे भी अपनी बेटियों के लिए परेशान हैं कि कहीं वे इन लड़कियों से कुछ गंदा सीख न लें? वे भी मूल्य संरक्षण के नाम पर किराये में रहनेवाली लड़कियों के खिलाफ होनेवाली आलोचना में बहुत सभ्य नागरिक की भूमिका में उतर आते हैं। यहाँ मूल्य संरक्षण एक दिखावा मात्र है। जब ये लोग अपनी बेटी को भी लायक बनाने के लिए किराये में रहनेवाली

---

1. महुआ माजी रॉल मोडल, वागर्थ सितम्बर 2005 पृ. 48

लड़कियों के साथ भेजने तक तैयार हो जाते हैं तब इस प्रहसन का अंत होता है।

मध्यवर्ग का विभाजित मन

कई मामलों में मध्यवर्ग विभाजित है। मुद्दा चाहे कुछ भी हो उसका मन विभाजित या खंडित ही रहता है। समकालीन कहानीकारों ने इस विभाजित अवस्था पर कहानियाँ प्रस्तुत की हैं जिनमें मध्यवर्ग की वास्तविकता साफ ज़ाहिर होती है। जातिभेद मध्यवर्गीय दुमुँहेपन का एक पहलू है। इस प्रकरण में वह अपने स्वार्थ के लिए जाति के आधारभूत सिद्धांतों को तोड़ता मरोड़ता है। काशीनाथ सिंह की कहानी 'कहानी सराय मोहन की' में बाबूसाहब और पंडितजी मोहनराम को निम्न तो मानते हैं और साथ ही उसके भोजन को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। भोजन प्राप्त करने के लिए मोहनराम के आगे अपनी श्रेष्ठता का बखान करते हैं। मोहनराम के आगे ब्राह्मणों को भोजन खिलानेवाली धर्मनीति को सामने रखकर दोनों पूरा भोजन हड़प लेते हैं। भोजन के बाद एक चमार का खाना खाने के अपराध बोध से बचने के लिए फिर उन्हीं शास्त्रों का इस्तेमाल करता है। "लेकिन उचित किया हमने बाबूसाहब' पंडितजी ने कहा, 'आपद्धर्म और कोई नहीं, यही है शास्त्रों में"[1] इसप्रकार अपनी सुविधा के अनुसार नियमों को, वह चाहे धार्मिक ही क्यों न हो, तोड़ा मरोड़ा जाने की प्रवृत्ति दुमुँहेपन के पीछे के स्वार्थी लक्ष्यों को स्पष्ट कर देता है।

---

1. काशीनाथ सिंह - कहानी उपखान (सं), कहानी सराय मोहन की, 2003 - पृ. 350

मध्यवर्ग की खंडित मानसिकता स्त्री-पुरुष संबंधों के संदर्भ में भी विचारणीय है। मध्यवर्ग स्त्री-पुरुष के बीच के मेल-मिलाप को लेकर अनुदार है। वह स्त्री और पुरुष के संबंध को कई सीमाओं में बाँधता है। इन सीमाओं को तोड़ने का मतलब है मध्यवर्गीय व्यक्ति और परिवार की 'इज्जत' पर लांछन लगाना। मध्यवर्गीय व्यवस्था जिसमें अब भी पुरुष प्रमुख है वहाँ ऐसी सीमाएँ अपने आदर्श में तो स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान होकर भी, आचरण में वह सिर्फ स्त्री तक सीमित है। ज्ञानरंजन की कहानी 'सीमाएँ' में विवेक नामक युवक प्रमीला नामक युवती से प्रेम करता है। उन दोनों की शादी करवाने के लिए विवेक की बहन सविता अपना पूर्ण सहयोग देने के लिए तैयार होती है। लेकिन जब विवेक को यह पता चलता है कि सविता उसके दोस्त से प्रेम करती है तो उसे यह अपने घर में आग लगानेवाली बात लगी। मध्यवर्गीय 'इज्जत' यहाँ स्त्री पर थोप दी जानेवाली बंदिशों में स्थित है। मध्यवर्गीय उदारता सिर्फ पुरुष के संदर्भ में ही लागू है। स्त्री की स्थिति में अब भी कोई फर्क नहीं आया है। उस पर समाज की सारी नैतिकताएँ थोपी गयी हैं। निवेदिता मेनन ने इस संबंध में लिखा है - "मैं इस बात से पूरी तरह सहमत हूँ कि नैतिकता का सारा दायित्व औरतों को ही वहन करना पड़ता है और इसकी जड़ पितृसत्ता है। पितृसत्ता को लगता है कि यदि औरत हाथ से निकल गई तो संपत्ति आदि सभी चीज़ों पर उनका नियंत्रण नहीं रहेगा। इस पितृसत्ता को बनाए रखने के लिए औरत की लैंगिकता पर काबू रखना आवश्यक है। वरना पितृसत्ता का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा।"[1] मध्यवर्ग की नींव

---

1. निवेदिता मेनन - स्वायत्तता एक बहुत बड़ा मूल्य है (लेख) हँस सितम्बर 2005 पृ. 48

पुरुष सत्तात्मक है। इसलिए मध्यवर्गीय पुरुष अब भी परंपरागत स्त्री छवि को मानता है। घर के बाहर स्त्री कितनी ही आधुनिका क्यों न बने घर के भीतर उसे पुरुष प्रधान मान्यताओं के आगे दबना ही है। बराबर में खड़ी स्त्री छवि को यहाँ मान्यता नहीं मिलती। परिणाम यह होता है कि घर में आधुनिक स्त्री का पर्यवसान परंपरागत स्त्री में होता है। स्वयं प्रकाश ने 'अशोक और रेणु की असली कहानी' में इसका चित्रण किया है। इसमें रेणु पढ़ी लिखी लड़की है। फिर भी वह अपनी ज़िंदगी अपनी मर्जी से नहीं जी पाती। मर्जी से जीना तो दूर वह अपनी मर्जी से खाती तक नहीं। वह अपनी इच्छाओं को पति की इच्छाओं तक सीमित रखती है। परिणाम स्वरूप वह मुरझा जाती है। लेकिन उसका इस प्रकार मुरझा जाने की खबर किसी को तब तक नहीं था जब तक बाटमिंटन खेलते समय उसका एक भिन्न व्यक्तित्व स्वाभाविक रूप से सबके सामने न आता। इस घटना के बाद रेणू का पति अशोक उसके मुरझा जाने के कारणों को खोजता है। यह खोज बोलने की, लड़ने की, माँगने की तमाम उदारवादी चिंताओं से गुज़रते हुए अंत में प्रजनन की अक्षमता पर आकर रुकता है। सोच की यह गति वास्तव में मध्यवर्गीय उदारवादियों के आवरण को बेनकाब करता है। मध्यवर्गीय उदारवादी पुरुष स्त्री की जैविक अक्षमता को सबसे बडी अक्षमता या दुःख बताकर उसकी अन्य क्षमताओं को सरलीकृत करता है। इससे ही पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था को स्थायित्व मिलता है।

मध्यवर्ग की खंडित मानसिकता उसके यौन विषयक दृष्टिकोण में भी जाहिर हो सकती है। मध्यवर्ग में यौनाकर्षण को खुले आम स्वीकार

नहीं किया जाता। इसलिए मध्यवर्ग सार्वजनिक जीवन में यौन व्यवहार को वर्जित क्षेत्र की तरह अभिव्यक्त करता है। पर व्यक्तिगत जीवन में इसके प्रति आकृष्ट है। इसलिए व्यक्ति पाखंड को अपनाता है। प्रियंवद ने 'एक अपवित्र पेड़' कहानी में इस पाखंड का चित्रण किया है। इसमें मुख्य पात्र एक लड़की को जो उसके दोस्त भी है चूमता है। यह घटना एक हरसिंगार पेड के नीचे हुआ था। रात भर वह अपनी हरकत पर पछताता रहा। साथ में वह यह भी सोचता रहा यह घटना उस पेड के फूल की बैंगनी गंध और स्पर्श की वजह से हुआ था। अगले दिन वह माफी माँगने उसके लाब में आ पहूँचता है। लेकिन तब भी वह अपने टुच्चेपन को नहीं छोड़ पाता। "दूर तक पूरी बिल्डिंग में कोई नहीं था। मैं ने उसके शरीर को ध्यान से देखा। गीले आटे सा था। सफेद, मुलायम और ललचानेवाला। उसका हाथ मेरे पास मेज़ पर पड़ा था। बेहद पास उसकी हथेली की आँच मुझ तक आ रही थी। छोटी-छोटी उँगलियों की खाल सिकुडी हुई थी। मुझे लगा कि उसकी हथेली इतनी पास है कि मैं उसे छू सकता हूँ.... या चबा भी सकता हूँ। उसका हाथ एक क्षण काँपा.... मैं ने अपनी उँगली हटा ली। "वह सब पेड की साजिश थी' मैं ग्लानि से बुदबुदाया।"[1] यहाँ एक अनुचित हस्तक्षेप को चालाकी से 'पेड' के नाम से मोड़ दिया गया है और उसे एक 'मज़बूरी' का आवरण प्रदान किया गया। मध्यवर्ग का यह पाखण्ड उसकी नैतिकता का ही हिस्सा बन गया है।

---

1. प्रियंवद एक अपवित्र पेड, 1997 पृ. 66

संक्षेप में कह सकते है कि मध्यवर्गीय दुमुँहेपन मध्यवर्ग द्वारा अपनाया गया शोषण तंत्र है। यह शोषण तंत्र अब उसके आचरण एवं संस्कृति का ही अहम हिस्सा बन गया है।

भारतीय कहानी में मध्यवर्ग एक बड़ा सच है। हिंदी कहानी ने भी इस सच को अपनाया है। आत्मशोध में लगे व्यक्ति की तरह हिन्दी कहानी ने मध्यवर्गीय जीवन को नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का कार्य किया है। इन कहानियों में मध्यवर्गीय सच स्वयं उभरता नज़र आता है। उसकी संस्कृति की वास्तविकता याने उसकी विघटनात्मक अवस्था, उसकी दृष्टि विपन्नता आदि कहानियों के शब्दों में बारीकी से दर्ज है।

अध्याय-3

समकालीन कहानी - राजनीति के समाजशास्त्रीय आयामों के विपुल संदर्भ

राजनीतिक विसंगतियों के वस्तु चयन की भूमिका

राष्ट्र के रूप में हमारी सामूहिक अस्मिता के निर्माण में स्वतंत्रता आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका थी। स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदारी का उद्देश्य सिर्फ अंग्रेज़ों से मुक्ति पाना नहीं था। न्याय और बराबरी के सिद्धांतों से परिचालित आधुनिक नागरिक समाज की स्थापना का संकल्प भी इससे जुड़ा हुआ था। लेकिन स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र की स्थापना के बाद भी न्याय और बराबरी से युक्त स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं हुई। क्यों? एक आधुनिक नागरिक समाज की स्थापना के लिए सहिष्णुता एवं शिष्टता की संस्कृति का विकास ज़रूरी है। उसमें संकीर्ण सामूहिक अदूरदर्शिताओं के लिए कोई जगह नहीं है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जब एक राष्ट्र के रूप में भारत की सामूहिक अस्मिता का रूप गढ़ित हुआ था तब हम अपने समाज में स्थित संकीर्ण सामूहिक अस्मिताओं के प्रति सजग नहीं हुए। फलतः अपने स्वार्थ हेतु सुप्त पडी ये संकीर्ण सामूहिक अस्मिताएँ - जातिवाद, सांप्रदायिकता, पूँजीवाद, पुरुषसत्ता आदि - फिर से जाग उठीं। परिणामस्वरूप राष्ट्र को लेकर जो स्थिर एवं आदर्शीकृत रूप हमने अपने मन में बिठा लिया था, वह टूट गया। टूटते विश्वास ने व्यक्ति को असुरक्षित बनाया। वह सुरक्षा की तलाश में राष्ट्रीयता की विकृत की गयी कई धारणाओं के अधीन में चरमराने लगा। आमआदमी की इस मजबूरी ने सत्ताकेंद्रित तानाशाही को और अधिक मज़बूत कर दिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संकीर्ण सामूहिक अस्मिताओं को दूर करके सामाजिक समरसता लाने के लिए कई योजनाएँ एवं पद्धतियाँ बनायी गयी थीं। लेकिन अधिकार के विकृत रूपों ने इन योजनाओं को विफल कर दिया है। इस संदर्भ में जाति एवं लिंग के आधार पर अपने मौलिक अधिकारों से वंचित न होने के लिए बनायी गयी पद्धतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। राजनीतिक आरक्षण ऐसी ही एक पद्धति है जो सदियों से पिछड़े पड़े दलित और नारी के उद्धार हेतु तथा उनकी राजनीतिक सहभागिता के लिए बनायी गयी है। लेकिन राजनीतिक आरक्षण के बावजूद भी दलित एवं नारी की पिछड़ी हुई अवस्था में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। क्यों? सत्तामोही राजनीतिज्ञों ने आज राजनीतिक आरक्षण को अपनी आकांक्षा पूर्ती का साधन बनाया है। ये अवसरवादी राजनीतिज्ञ दलित, पिछड़े, अल्पसंख्यक आदि को ब्राह्मणों एवं अन्य जातियों के खिलाफ भटकाकर या एक प्रतिशोध प्रधान नीति को अपनाकर सत्ता पर अपना कब्जा जमाते रहे हैं। अधिकार प्राप्ति के बाद ये दलित राजनीतिज्ञ या तो ब्राह्मणवाद को अपनाते हैं या पूँजीवाद के साथ गठबंधन कर लेते हैं। फलतः दलित समस्या और भी विकराल रूप धारण कर लेती है। ऐसे में समान अधिकार एवं राजनीतिक सहभागिता के लिए बनाया गया राजनीतिक आरक्षण एक बहाना बन जाता है। राजनीतिक आरक्षण को सत्ता प्राप्ति का साधन बनाने का संदर्भ सिर्फ दलित राजनीति तक सीमित नहीं है। स्त्री आरक्षण की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। स्त्री को लाज, मर्यादा और परंपरा की जकड़न से कभी भी मुक्ति न दिलाने

वाली पुरुषसत्ता ने स्त्री के राजनीतिक आरक्षण को अपने हाथ का खिलौना बनाया है।

सामाजिक समरसता को विफल बनानेवाले अधिकार के विकृत रूपों को प्रस्तुत करने में नौकरशाही की भी अपनी अहम भूमिका है। नौकरशाही जनता और प्रशासन को जोड़नेवाली कड़ी है। भारत में लोकतंत्र की स्थापना के बावजूद वर्तमान नौकरशाही का अंतस अंग्रेजियत से सरोबार है। नौकरशाही अपने को जनता से अलग एवं विशिष्ट मानती है। नौकरशाही का यह जनविरोधी रवैया उसके द्‌वारा अपनायी जानेवाली नीतियों में विद्यमान है। पूँजीवादी शक्तियों, सत्तामोही राजनीतिज्ञों एवं नौकरशाही का स्वार्थी गठबंधन लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को असंभव बना देता है।

लोकतांत्रिक मूल्यों का आधार है न्याय। जब जनतांत्रिक व्यवस्था खतरे में पड़ जाती है तो वहाँ के जनतांत्रिक मूल्य और न्याय का संबंध टूट जाता है। न्यायरहित जनतांत्रिक व्यवस्था किसी न किसी अन्याय को ही 'न्याय' का मुखौटा प्रदान करती है। इस 'न्याय' के बहाने सत्ताधारी स्वतंत्रता जैसे राष्ट्रीय न्याय को दबा देते हैं। फलतः शोषण को व्यापक मान्यता मिलती है। यह स्थिति आमआदमी को एक असुरक्षित माहौल में जीने के लिए विवश बनाती है। इस असुरक्षित स्थिति से बचने के लिए किये जानेवाले हर प्रयास को प्रचलित 'न्याय व्यवस्था' 'विद्रोह' या 'आतंकवाद' घोषित कर देती है। न्याय के इस हनन में न्यायालय की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जो न्यायालय आमआदमी को अपना

COCHIN 682 022 UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY LIBRARY

हक दिलवाने के उद्देश्य से कार्यरत है वह वर्चस्ववादियों एवं पूँजीपतियों के हाथों बिक गया है। इसलिए कानून सत्य को उतना महत्व नहीं देता जितना सामर्थ्य से जोडे गये तथ्य को वह प्रदान करता है।

अधिकारचेतना का एक अन्य विकृत रूप है सांप्रदायिकता। "सांप्रदायिकता एक ऐसा सत्ता संघर्ष है, जो इतिहास की एक विशेष व्याख्या, दर्शन की एक खास समझ तथा सामाजिक आवश्यकताओं के एक खास ढंग के निरूपण पर आधारित है। चूँकि यह मूलतः सत्ता का संघर्ष है और इसकी रणनीति समाज में मौजूद धार्मिक समूहों को केंद्र में रखकर बनाई जाती है, इसलिए सांप्रदायिक दिमाग किसी सच्ची बहस में पड़ता ही नहीं वह सिर्फ अपने और पराये का भेद पहचानता है।"[1] अतः सांप्रदायिकता ने संपूर्ण भारत को अल्पसंख्यकों एवं बहुसंख्यकों में बाँट दिया है। स्वार्थी शक्तियाँ अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार इन बहुसंख्यकों एवं अल्पसंख्यकों का इस्तेमाल करती हैं। इसके लिए वे लोग बहुसंख्यकों की जातीयता को राष्ट्रीयता के साथ जोड़ते हैं। यहीं नहीं वे लोग अल्पसंख्यकों की राष्ट्रीयता पर सन्देह करने लगते हैं। निरंतर संदेह की दृष्टि से देखे जाने के कारण अल्पसंख्यक धार्मिक कट्टरता में सुरक्षा की तलाश करने के लिए मज़बूर हो जाते हैं। अल्पसंख्यकों एवं बहुसंख्यकों की यह धार्मिक कट्टरता सांप्रदायिक शक्तियों को और अधिक मज़बूत बना देती है। ये सांप्रदायिक शक्तियाँ कुछएक गढे गये भावनात्मक मुद्दों को सामने रखकर गंभीर समस्याओं को सरलीकृत करती हैं। उनकी यह

---

1. राजकिशोर एक अहिन्दु का घोषणापत्र, 2002 पृ. 43-44

UNIVERSITY LIBRARY COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY COCHIN 682 022

शोषण नीति अन्य सामाजिक, आर्थिक समस्याओं के समाधान को रोकती है। लोगों को वास्तविक सामाजिक समस्याओं से अवगत न कराकर, सिर्फ भावना में बहकाकर, तार्किकता से संबंध विच्छेद कर सांप्रदायिक शक्तियाँ अपना मकसद साधती हैं।

अमानवीय पूँजीवादी व्यवस्था और राजनीति के गठबंधन ने जनतांत्रिक मूल्यों को खोखला बनाया है। भोगवाद इस गठबंधन का आधार है। फलतः पोलिटिक्स लाभ कमाने का बिजनेस बन जाता है। राजनीति के क्षेत्र में पनपनेवाली यह शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टि एक ओर जनता के यथार्थ को नज़र-अंदाज करती है तो दूसरी ओर भ्रष्टाचार को सहजता एवं स्वाभाविकता प्रदान करती है। राजनीति की यह अमानवीयता अक्सर शालीनता की पोशाक पहनकर आती है। पर कभी-कभी यही भोगवादी राजनीतिक वर्ग अपने अस्तित्व के लिए तानाशाही पर भी उतर आता है। वह अपने खिलाफ उठनेवाली हर आवाज़ को दबा देता है।

आज साम्राज्यवादी शक्तियाँ अन्य देशों की अर्थव्यवस्था के ज़रिये उस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित करती हैं। देश के सत्ताधारी वर्गों ने शोषण के लिए उच्च साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ अपना हाथ मिला लिया है। फलतः शोषण के लिए कई भ्रम फैलाये गये। इस तरह फैलाया गया एक भ्रम है विकास। इस विकास का आमआदमी की प्रगति से कोई संबंध नहीं है। बल्कि समाज के किसी एक वर्ग की विलासिता को ही यहाँ विकास का नाम दिया गया है। सामान्य लोगों की बुनियादी ज़रूरतों तक से उसका कोई संबंध नहीं है। ऐसे माहौल में मानवीय श्रम

और मस्तिष्क कौडियों के दाम बिकते हैं। सर्वहारा विरोधी इस अवस्था का प्रतिरोध आज मुखर नहीं है क्योंकि इसके खिलाफ के प्रतिरोध को कई लोकलुभावन नीतियों से दबा दिया जाता है।

अधिकार की राजनीति

सामाजिक समरसता की विफलता और राजनीतिक अधिकार

लोकतंत्र की नींव को दृढ बनाने की कोशिशों के बावजूद राजनीति अक्सर मानवविरोधी पक्ष में खड़ी नज़र आती है। सिद्धांत के स्तर पर देश और जनता से प्रतिबद्ध राजनीति व्यवहार के आंगन में उतरते ही पलट जाती है। क्यों? इसकी खोज के लिए राजनीति से जुडे कई मुद्‌दों पर विचार करना होगा। राजनीतिक कार्यों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। राजनीतिशास्त्र के अनुसार राजनीति से तात्पर्य सिर्फ राज्य से संबंधित बातों से नहीं, बल्कि समस्त राजनीतिक व्यवहार से है। राजनीतिक व्यवहार का निर्णायक तत्व है शक्ति। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. दिनेश सिंह के अनुसार "राजनीतिक व्यवहार के अंतर्गत वह सारी क्रिया आ जाती है जिसका संबंध 'शक्ति' की प्राप्ति और उसके उपयोग से है। किसी व्यवहार या कार्य को 'राजनीतिक' तब कहेंगे जब उसमें 'शक्ति' का तत्व सम्मिलित हो।"[1] लेकिन 'शक्ति' का एक नकारात्मक पक्ष भी है। अपने नकारात्मक अर्थ में 'शक्ति' सत्ता, प्रभुत्व, नियंत्रण, प्रभाव, बल-प्रयोग, आधिपत्य आदि अनेक शब्दों के समानार्थी है। ऐसी शक्ति की प्राप्ति और उसका उपयोग समस्त राजनीतिक व्यवहार को निरंकुश बना देता है।

---

1. डॉ. दिनेश सिंह - राजनीतिशास्त्र की आधारभूत अवधारणाएँ, 1996 - पृ. 1

लोकतांत्रिक शासन में शक्ति का यह नकारात्मक पक्ष अनुचित है। मानवाधिकारों की रक्षा इसकी पहली शर्त है। इसलिए भारत में जब लोकतंत्र की स्थापना हुई तब समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व जैसे आदर्शों को राजनीतिक व्यवहार का मूलाधार बना दिया गया। लेकिन आज ये राजनीतिक आदर्श अपने व्यवहार में कुछ लोगों के हितों की रक्षा का साधन मात्र बन गया है। "महान से महान मानवीय आदर्शों से प्रतिबद्ध राजनीतियाँ इस अंतर्विरोध से नहीं उबर पातीं कि सिद्धांत से व्यवहार के स्तर पर आते ही वे मानव विरोधी हो जाती हैं। उनकी मानव-केंद्रित चिंता व्यवहार में राष्ट्र, धर्म, लक्ष्यवर्ग वगैरह की रक्षा का सिद्धांत बन जाती है और मूर्त रूप में वह कुछ लोगों की बाकी लोगों के हितों के विरुद्ध रक्षा करने लगती है।"[1] फलतः राजनीतिक आदर्शों ने अपना वास्तविक अर्थ खो दिया है। वह सत्ता तक पहूँचने की सीढ़ी बन गया है। सत्तामोही राजनीतिज्ञ आदर्शों के प्रदर्शन से अपना वोट बैंक भरता है। अतः आदर्शों के प्रति आमआदमी का लगाव खुद उसके ही शोषण का ज़रिया बनता है। रामदरश मिश्र ने 'सड़क' कहानी में इसका चित्रण किया है। इसमें मुख्य पात्र चन्द्रभान पाण्डे एक प्रखर गाँधीवादी है। वह एक स्कूल मास्टर है। सेवानिवृत्ति के बाद वह अपने गुज़ारे के लिए सड़क के किनारे चाय की दूकान चलाता है। चन्द्रभान पाण्डे का एक विद्यार्थी जंगबहादूर यादव एक दिन चाय की दूकान में आता है। यह वही छात्र था जिसने अपने स्कूली जीवन में किसी विद्यार्थी की पुस्तक से गाँधीजी का चित्र फाड़कर उस पर

---

1. गिरिधर राठी - ऊहापोह, 1998 पृ. 150

पेशाब किया था। चन्द्रभान पाण्डे ने स्कूल से निकाल दिया था। आज वह एम.एल.ए. बन गया है। मास्टर से बदला लेने के लिए वह चाय को नीचे लुढ़काकर पाँच रुपये का नोट देकर चला जाता है। मास्टर चन्द्रभान पाण्डे जैसे आदमी के लिए गाँधीवाद एक मूल्यवान अनुभव एवं विश्वास है। इस अनुभव का उसकी जीवनी शक्ति के साथ गहरा संबंध है। लेकिन सत्ताधारी के लिए राजनीतिक आदर्श सिर्फ सत्ता हासिल करने का ज़रिया है। राजनीतिक आदर्शों के संदर्भ में सत्ताधारी ओर आमआदमी के बीच के इस अंतर के संबंध में स्वयं रामदरश मिश्र ने इसप्रकार कहा है "अगर आप मूल्य को खोजेंगे ऊँचे-ऊँचे लोगों के संस्कारों में तो नहीं दिखाई पडेगा। सारे के सारे ऊँचे नेता लोग, ऊँचे पूँजीपति लोग, ऊँचे शिक्षाशास्त्री लोग, यहाँ तक कि जो ऊँचे महर्षि लोग मूल्य शून्य हैं, उनमें मूल्य नहीं बचा है, केवल मूल्यों का प्रवचन बचा हुआ है वहाँ पर। लेकिन जो आमआदमी है, सामान्य आदमी है, जो नहीं जानता कि मूल्य क्या चीज़ है, क्या चीज़ नहीं है, अभी संबंध बचे हुए हैं, प्यार और करुणा और सहानुभूति बची हुई है।"[1] इसलिए जब सत्ताधारी द्वारा उसके विश्वास एवं अनुभव को सारहीन कर दिया जाता है तो वह अपने आपको निराधार महसूस करने लगता है। तब आमआदमी अपनी आस्था को राजनीतिक आदर्शों के प्रतीक चिह्नों के ज़रिए सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। झंडा, खादी आदि ऐसे ही प्रतीक चिह्न हैं। 'सड़क' कहानी में मास्टर चन्द्रभान पाण्डे जंगबहादुर द्वारा अपमानित होने के बाद खादी

---

1. रामदरश मिश्र अंतरंग, 1999 पृ. 165

की नयी धोती के लिए दूकान पर न जाने का जिद्द पकड़ता है। चन्द्रभान पाण्डे के लिए खादी से बनी धोती सिर्फ शरीर ढकने का साधन मात्र नहीं, बल्कि अपने नष्ट होते विश्वास एवं अनुभव को फिर से संजोने या अपने लिए सुरक्षा का आधार खोजने का एक साधन भी है। शरीर ढकने के लिए वह महँगी खादी के अलावा अपने बेटे के मिल से बनी सस्ती धोती पहन सकता था। आमआदमी का ऐसे राजनीतिक प्रतीक चिह्नों में आस्था की तलाश बिल्कुल ही बेमतलब है। वह इसलिए कि सामाजिक सरोकार से इसका कोई संबंध नहीं। अतः यह एक विकृत राष्ट्रीय चेतना है। इसके तहत आमआदमी किसी कल्पित राष्ट्रीय सरोकार को नज़दीकी दायित्वबोध से ज्यादा महत्वपूर्ण मानने लगता है। उसकी देशीयता हाशिये पर धकेल दिये गये लोगों की दयनीय स्थिति से नहीं, बल्कि ताजमहल का फिर से विश्व अद्भुत बनना, सुवर्ण सिंहासन की वापसी, क्रिकेट की जीत आदि से जागृत होती है। अतः राष्ट्रीय भावना अनुभव से ज़्यादा मन को रोमांचित करनेवाली एक भावना बन जाती है। "राष्ट्र केवल काल्पनिक नक्शे पर स्थित मन को लुभानेवाली रोमांटिक भावना बन गई है। ऐसी राष्ट्रीयता में अन्ततः हम भी काल्पनिक बन जाते हैं। नागपुर के हिन्दू व्यक्ति को अपने पडोस के हिन्दू के भूख से मर जाने पर कोई दुःख नहीं होता लेकिन कश्मीर में हिन्दू पर हमला होने से वह संतप्त होता है।"[1] आमआदमी का यह रवैया इन वर्चस्ववादियों के लिए विकास की अनंत संभावनाएँ खोल देती हैं। ऐसे में सामाजिक समरसता का उद्देश्य यहाँ

1. भालचन्द्र नेमाडे साहित्य, संस्कृति और भूमंडलीकरण (लेख), आलोचना, जूलाई-सितंबर 2003 पृ. 190

उपेक्षित रहता है। आगे राजनीतिक अधिकार के संदर्भ में सामाजिक समरसता के टूटने की प्रक्रिया का विश्लेषण मुख्यतः दलित, स्त्री और नौकरशाही के संदर्भ में करेंगे।

लोकतंत्र को अपनी वास्तविक आधारभूमि सामाजिक समरसता से ही प्राप्त होती है। लेकिन सत्ता की राजनीति के संदर्भ में लोकतंत्र के विकास का यह उर्वर पक्ष हमेशा उपेक्षित रहता है। उसके लिए सामाजिक असमरसता भी सत्ता हासिल करने का हथियार है। जातिप्रथा ऐसी ही एक सामाजिक असमरसता है जिसका उपयोग वर्तमान राजनीति में बखूबी से होता आ रहा है। अब जातिप्रथा चुनाव जीतने के लिए प्रयुक्त करनेवाला एक अस्त्र है। "देश के समस्त राजनीतिक दलों ने अपनी चुनावी गणित का आधार श्रेष्ठतम मूल्यों को न बना करके, जातीयता के आधार पर लिया है। चुनाव क्षेत्र में कितने प्रतिशत, किस जाति अथवा उप जाति के लोग निवास करते हैं और उन्हें किस आधार पर प्रभावित किया जा सकता है, आज की राजनीतिक गणित में इसका महत्वपूर्ण स्थान बन चुका है।"[1] इस संदर्भ में यह सवाल उठ सकता है कि सत्ता केंद्रित दलित-राजनीति से दलित समस्या का समाधान कहाँ तक संभव है? दलित समस्याओं के राजनीतिकरण में व्यापक सामाजिक परिवर्तन के मुहिम से जुड़ने की संभावना थी। लेकिन इसने अपने को अतीत की कटु यादों और उसके अवशेषों से जूझने में ही सीमित रखा। आज के सामाजिक यथार्थ से जूझने के लिए उसने कोई वैकल्पिक नीति नहीं

---

1. नरेन्द्र मोहन आज की राजनीति और भ्रष्टाचार, 1997 पृ. 216

बनायी है। इसके बजाय वह अपनी ओर से कभी भी न स्पष्ट किये जानेवाले 'ब्राह्मणवाद' के खिलाफ लड़ने का भ्रम फैलाता रहा। ब्राह्मणवाद से तात्पर्य है स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के सिद्धांत को न मानना है। लेकिन सत्ता केंद्रित दलित राजनीति ने ब्राह्मणवाद को हमेशा ब्राह्मणों तक सीमित रखा। इसप्रकार का जातिवाद राष्ट्रीय एकता के लिए न केवल हानिकारक है, बल्कि राष्ट्रीय एवं सामाजिक एकता का विरोधी भी है। महेश कटारे की 'कुआँ' कहानी में मिसुरजी का बैल गाँव की कुएँ में गिरा है। बैल को बचाने के नाम पर कुएँ के पास पूरा गाँव इकट्ठा हुआ है। पर कोई कुएँ में उतरने के लिए तैयार नहीं है। बैल को बचाने के लिए ढीमरों के रामधन इसलिए तैयार नहीं है कि वे लोग बहुजन पार्टी के है। इसलिए तिलकवालों के लिए कुएँ में क्यों कूदें? लेकिन पिछले साल जब गाय के पेट में बच्चा उलझ गया था तो मिसुर को लिवाने ठाकुर साब के यहाँ आ गया था। लेकिन रामधन वहाँ से खिसक गया। उसे अपने नेता का भय है। नेता बड़ी जाति के लोगों की मदद करने पर उसे गद्दार घोषित करेंगे। रामधन एक उज्ज्वल राजनीति   जिसमें कार, कोठी, तिजोरी है - के सपने देखनेवाला है। यहाँ एक प्रतिशोध प्रधान नीति के द्वारा कुर्सी अपनाने का तंत्र साफ झलकता है। दलित राजनीतिज्ञों के इस षड्यंत्र के संबंध में सच्चिदानन्द सिन्हा ने लिखा है - "अभी देश के पिछड़ों की राजनीति कमोबेश इसी भावनात्मक धरातल पर चल रही है, जिसमें ब्राह्मणवाद और अगली जातियों को गालियाँ देने की होड़ लगी है और इसे नीतियों का पर्याय माना जाने लगा है। इन नेताओं को ऐसा लगता है कि इस नारे के पीछे दलित, पिछड़े, अल्पसंख्यक आदि को

जोड़ कर एक ऐसा बहुमत कायम हो जायेगा, जिससे स्थायी रूप से सत्ता पर कब्जा रखा जा सके।"[1] अतः स्वतंत्रता, समता, बंधुता के सिद्धांत को न माननेवाले ब्राह्मणवाद का अंश ऐसी दलित राजनीति में भी देख सकते हैं। दलित राजनीति का यह पक्ष पूँजीवाद को ही मज़बूत करता है। दलित राजनीति और ब्राह्मणवाद का संबंध स्वतंत्रता के पहले से ही कायम था। स्वयं अम्बेड़कर इस सत्य से अवगत थे। "वे (अम्बेड़कर) स्वयं देख रहे थे कि असमानता पर आधारित ब्राह्मणवाद दलित वर्गों में भी पैदा होने लगा था। शिक्षित और नौकरियाँ पानेवाले दलितों का एक बड़ा हिस्सा अवसरवादी होता जा रहा था, जो अपने निजी हितों की पूर्ति के लिए शोषक वर्ग की तरह शोषण के हथकंडे अपना रहा था।"[2] दलित राजनीतिज्ञों और ब्राह्मणवाद के इस संबंध का खुलासा काशीनाथ सिंह ने अपनी 'वे तीन घर' कहानी में किया है। इसमें विपतराम जो दलित नेता है, वह अब अमीरों के ठाट-बाट में रहता है। जिन लोगों ने उसे नेता बनाया है उनसे वह अब दूरी रखता है। बाहर उससे मिलने के लिए खड़े दलित लोगों की उपेक्षा करके वह अपने ब्राह्मण दोस्त को किचेन गार्डन दिखाने की ज़िद करता है। बाहर खडे 'अपने' लोगों की उपेक्षा वह इसलिए करता है कि वे लोग कोई अफसर या बाबू के कहने पर दौड़कर भिंडी, करेला कुछ भी ले आते हैं। लेकिन जब वह इन चीज़ों को लाने को कहता है तो वे लोग नहीं करते क्योंकि वह उन्हीं लोगों की जात का

1. राजकिशोर (सं) भारत का राजनीतिक संकट, सच्चिदानन्द सिन्हा - राजनीतिक संकट किसे कहते हैं, 1994 पृ. 19
2. राजकिशोर दलित राजनीति की समस्याएं, 2006 पृ. 11

व्यक्ति है। यह बात उसे खलती है। दलित लोग उसे अपना मानते हैं। पर विपतराम के लिए वे लोग गैर हैं। विपत की पत्नी की बातें यह स्पष्ट करती हैं। विपत की पत्नी अपने पडोस के संबंध में कहती है कि सबसे अच्छा यह है कि वहाँ कोई आलतू-फालतू लोग नहीं है। आलतू-फालतू का मतलब वह आगे स्पष्ट करती है "मतलब कि इधर बाजू में इंस्पेक्टर साहब हैं और उधर बाजू में इनवर्सिटी के लीचड़ साहब। सामने के तीन घर (जिनमें दलित लोग रहते हैं) को छोड़ के बाकी माहौल में बबुआन लोग हैं।"[1] उच्च जाति एवं वर्ग के लोगों के रहन-सहन और रवैये को निम्न जाति के शिक्षित एवं नेता लोगों के द्‌वारा अपनानेवाली इस सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया को काशीनाथ सिंह ने इसी कहानी की दो पंक्तियों के द्‌वारा इसप्रकार व्यक्त किया है - "हर आदमी शुरू करता है 'हाथी' से और अंत करता है 'बासी' रोटी पर / लालसाएँ शुरू होती है आसमान से और आ जाती है ज़मीन पर।"[2] जब दलित राजनीतिज्ञ स्वयं ब्राह्मणवादी बनता है तब वह समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व के लिए की जानेवाली लड़ाई को भूल जाता है। फलतः वह ब्राह्मणवाद व पूँजीवाद के साथ गठबंधन कर लेता है या स्वयं ब्राह्मणवादी व पूँजीवादी बनता है। "आज की 'दलित राजनीति' अपने एजेंडा में 'ब्राह्मणवाद' के विरोध को तो शामिल करती है, लेकिन 'पूँजीवाद' के सवाल पर या तो उसके पास कथ्य ही नहीं है या फिर चुप है।"[3] अतः कह सकते हैं कि ऐसे दलित

---

1. काशीनाथ सिंह कहानी उपखान (सं), वे तीन घर, 2003 पृ. 275
2. काशीनाथ सिंह कहानी उपखान (सं), वे तीन घर, 2003 पृ. 266
3. राजकिशोर दलित राजनीति की समस्याएँ, 2006 पृ. 50

राजनीतिज्ञ न ब्राह्मणवाद के खिलाफ हैं और न पूँजीवाद के। ऐसे दलित ब्राह्मणवादी का राजनीतिक हस्तक्षेप बहुत खतरनाक है। एक ओर वह ऐसे अधिकारों को भोगता है जिसका वह हकदार नहीं है तो दूसरी ओर वह स्वयं दूसरे दलितों का हक छीनता है। उसके इस सत्ता रोब को 'आरक्षण' का कवच प्राप्त है। फलतः जातिगत राजनीति संकीर्ण, अनुदार और विद्वेषपूर्ण बनती जाती है।

सत्तामोही राजनीतिज्ञों के द्‌वारा राजनीतिक आरक्षण को अपनी आकांक्षा पूर्ति का साधन बनाने का संदर्भ सिर्फ 'दलित राजनीति' तक सीमित नहीं। सत्ता में स्त्री सहभागिता के लिए बनायी गयी आरक्षण नीतियाँ भी सत्तामोहियों के हाथ का हथियार बन रहीं हैं। "संविधान के द्‌वारा अधिकार दिया जाना एक बात है और इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए जो अवसर की समता है उसकी उपलब्धि दूसरी बात। भले ही भारत का संविधान अपने देश की महिलाओं को पूर्ण मताधिकार दे रहा हो, भले ही उसने उन्हें समस्त सामाजिक, आर्थिक अधिकार प्रदान कर दिये हों, लेकिन अभी यह नहीं कहा जा सकता कि राजनीति में ऊँचे पदों पर पहुँचने के लिए उसे समान अवसर प्राप्त हो रहे हैं।"[1] ग्रामीण क्षेत्रों की पंचायतों से लेकर जिला स्तर तक पंचायतों एवं नगर निकायों में लगभग एक तिहाई पद आरक्षित करके आठ लाख महिलाओं को राजनीति में सक्रिय भागीदारी के अवसर प्रदान करने के बावजूद भी राजनीति के क्षेत्र में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी के अभाव का कारण क्या है? नगरपालिकाओं

1. नरेंद्र मोहन आज की राजनीति और भ्रष्टाचार, 1997 पृ. 148

एवं पंचायतों में आरक्षण के बाद महिलाओं की भागीदारी में कई गुना वृद्धि तो हुई है पर सत्ता में उसको बराबर का हिस्सेदार नहीं माना जाता। इसके कारणों की खोज मैत्रेयी पुष्पा ने 'फैसला' नामक कहानी में किया है। इसमें वसुमति ब्लाक प्रमुख की पत्नी है। रनवीर उसका पति है। अब बसुमति खुद प्रधान बन गयी है। लेकिन रनवीर अपनी पत्नी को न पंचायत चौंतरे में जाने देता है और न उसको अपना निर्णय लेने देता है। वह उसे कभी भी लाज, मर्यादा, परंपरा के जकड़न से मुक्त होने नहीं देता। यह जकड़न बसुमति के हर न्याय के फैसले को रोकता है। "पंचायती चबूतरे पर बैठती तुम शोभा देती हो? लाज-लिहाज मत उतारो। कुल परंपरा का ख्याल भी नहीं रहा तुम्हें? औरत की गरिमा आढ-मर्यादा से ही है। फिर तुम क्या जानो गाँव में कैसे-कैसे धूर्त है।"[1] अतः कह सकते हैं कि अब भी राजनीति में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी केवल कागज़ों तक सीमित है। राजनीति में वह पुरुषों की आकांक्षा पूर्ती का साधन बन रही है। चुनाव में स्त्रियों को टिकट देने की बात आने पर सभी दलों के प्रतिष्ठित नेताओं की पत्नियों, बेटियों और बहुओं को उम्मीदवार बना दिया जाता है। चुनाव जीतने के बाद उनके पिता, पति, ससुर आदि अपनी राजनीति चलाते हैं। स्त्री आरक्षण को लेकर राजनीतिक दलों के द्वारा दिखायी जानेवाली उदारता भी खोखली है। "लोकसभा और विधानसभाओं में महिलाओं के लिए सीटें आरक्षित करने का बिल जिसप्रकार सभी दलों के पुरुषों के विरोध के कारण अधर में लटक गया

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - ललमनियाँ (सं), फैसला, 1996 पृ. 11

है, उससे स्त्रियों को सत्ता का भागीदार बनाने की घोषणाओं की सच्चाई का परदाफाश हो जाता है।"[1] अतः कह सकते हैं कि सत्ता के लोभ ने राष्ट्रवादियों का संबंध सुधारवाद से तोड़ दिया है। इस संबंध में मैत्रेयी पुष्पा का कथन है - "सच में प्रगति के दावे उसी तरह सड़े-गले और मृत साबित हुए, जैसा कि समाज ने हमारा जीवन बना रखा था। प्राचीन मुहावरा टस से मस न हुआ। यह जीवन की विडम्बना नहीं तो और क्या है कि देश आज़ादी की स्वर्ण जयन्ती मना रहा है और स्त्री अशिक्षा, दहेज तथा चाल-चलन की शुचिता की सूली पर चढ़ी हुई है, जिन्दगी की भीख माँग रही है। जेट और कम्प्यूटर के युग में सामाजिक सत्ता का सामंतवादी वर्चस्व अपनी पूरी अपरिवर्तनीयता के साथ उसकी दुनिया पर काबिज है। नहीं तो पाँच हज़ार वर्ष पूर्व का संविधान अब तक भी संशोधित तक न होता?"[2] यहाँ राष्ट्रवाद और सुधारवाद परस्पर पूरक नहीं है। बल्कि यहाँ दोनों का एक ही अर्थ है। वह है अधिकार प्राप्ति का साधन।

सत्तारूढ मंत्रिपरिषद् अपना कार्य मंत्रियों से ही नहीं बल्कि नौकरशाही से भी चलाते हैं। शासन द्वारा प्रस्तुत नीतियों का संचालन नौकरशाही द्वारा होती है। अतः नौकरशाही का जनता से निकटतम संबंध है। इसके ज़रिए ही देश की जनता सत्ता से संपर्क कर पाती हैं। लेकिन कभी-कभी नौकरशाही वर्गीय हितों के संरक्षण का माध्यम भी बनती है। उस समय वह अपने व्यवहार में अहंकारी, स्वेच्छाचारी और

---

1. देवेन्द्र उपाध्याय आज़ादी के 50 वर्ष क्या खोया, क्या पाया, भाग-2, 1998- पृ. 75
2. मैत्रेयी पुष्पा गोमा हँसती है भूमिका, 1998 पृ. 9

भ्रष्ट होती है। तब जनता को शासन से जोड़नेवाला यह पुल स्वयं जनता से अलग होता है। इस प्रकार की नौकरशाही की वजह से राजनीति पर एक खास वर्ग का अधिकार बना रहता है। यदि नौकरशाही अपने व्यवहार में स्वेच्छाचारी और भ्रष्ट हैं तो प्रशासन चाहे कितना सुन्दर क्यों न हो, वह जनता के लिए व्यर्थ ही होता है। भारत में जनतंत्र स्थापित होने के बावजूद नौकरशाही का यह वर्चस्व यहाँ क्यों कायम है? भारत की वर्तमान नौकरशाही का अंतस आज भी अंग्रेजियत से सरोबार है। इसलिए नौकरशाही अपने को जनता से अलग एवं विशिष्ट मानती है। फलतः वह भारतीय अस्मिता की रक्षा या राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण के प्रति उदासीन हो जाती है। अपने स्वार्थ हेतु इन लोगों ने एक सशक्त गठबंधन तक बनाया है। मिथिलेश्वर की कहानी 'मेघना का निर्णय' में मेघना एक मज़दूर है। उसको अफसर लोग गाँव के बाबू तेगासिंह के यहाँ बुलवाकर धमकाते हैं। वह इसलिए कि उसने शहर में रेल के एक बडे अफसर के यहाँ साग-सब्जी, फूल-पत्ती लगाने का काम किया था। काम के बाद अफसर पूरा वेतन देने से इनकार कर देता है। वेतन माँगने के लिए गये मेघना और उसके साथियों को वह अफसर पुलिस की मदद से भगाता है। अब शहर का वह अफसर गाँव के बाबू लोगों के साथ मिलकर मेघना को इस बात की चेतावनी देते हैं कि आगे वह अफसरों के खिलाफ कोई भी कदम नहीं उठायेगा। इसप्रकार अफसर लोग एक मज़दूर के अपने अधिकार के लिए उठी आवाज़ को दबा देते हैं। नौकरशाही का यह जनविरोधी रूप उसके द्वारा अपनाये जानेवाली हर नीति में विद्यमान है। नौकरशाही का जनविरोधी स्वार्थी पक्ष अपनी

सुविधाओं को जनता की माँगों के रूप में प्रस्तुत कर देता है। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद खेती के विकास के लिए कई योजनाएँ बनायी गयी थीं। नौकरशाही के द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार सरकार ने खेती के विकास के लिए आधुनिक यंत्र, खाद, बीज आदि मँगवाये थे। उस समय भारत के अधिकांश किसान खेतिहर थे। नौकरशाही ने इस सत्य को सरकार से छिपा दिया और नयी योजना के तहत आयी खेती के साधनों को किसानों के नाम पर पूँजीपतियों के साथ मिलकर हड़प लिया। विजयकांत की कहानी 'इन्द्रजाल' में इस सत्य को रेखांकित किया गया है। इसमें रघु नामक खेतिहीन किसान की माँ भूदान में मिले खेत के संबंध में कहती हैं "अरे भूदान की लुटाई में जितनी ज़मीन बरसाईन न जमीदरवन, वो सब कब की ग्रस चुकी थी कोसिका माई कुछ बंजर, परती-परांट किन्हीं को मिली भी तो उनके पास न हल, न बैल, न खाद, न बीज, खेती का मुंह से करें ? उन्हीं के कब्जे में रह गये खेत, जिन्होंने दान का पुन्न लूटा था, हां कागद के एहसान में मजूरन बन गए बेगार।"[1] अतः कह सकते हैं कि नौकरशाही सरकारी योजनाओं को विफल और जनविरोधी बनाकर आमआदमी पर अपना आर्थिक और राजनीतिक रोब जमाता है। इससे आमआदमी का जीवन दुस्तर हो जाता है। नौकरशाही की इस घिनौनी हरकत के संबंध में अभयकुमार ने इसप्रकार लिखा है - "नौकरशाही और उसके ज़रिये अभिजनों के एक खास वर्ग ने पूरे समाज पर वर्चस्व कायम कर लिया। इस प्रभुत्व का दुरुपयोग करके नौकरशाही

---

1. विजयकांत इन्द्रजाल, हंस, आगस्त 2006 पृ. 42

ने समाज को खासे अवमानननाकारी अनुपालन के लिए विवश किया और सभी से बड़े पैमाने पर रिश्वत की माँग करने का सिलसिला चलाया। नौकरशाही ने लाइसेंस - परमिट - छापा राज स्थापित किया और फिर उसके ताकतवर कारकुनों की हथेली गर्म किये बिना इस देश में किसी भी किस्म की आर्थिक कार्रवाई नामुमकिन हो गयी, यहाँ तक कि इसके बिना भीख माँगना भी मुश्किल हो गया।"[1] यह सही है कि संसद को इस बात का अधिकार है कि वह नौकरशाही पर अंकुश लगायें। पर संसद ही जब निरंकुश बन जाती है तो स्थिति और गंभीर बनती है। नौकरशाही पूँजीपतियों और राजनीतिज्ञों से अपना गहन संबंध जोड़ता है। यह गठबंधन मात्र शोषण के लिए बनाया गया है। इसमें ईमानदारी एवं ईमानदार लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। अखिलेश की 'शापग्रस्त' कहानी में प्रमोदवर्मा नामक पात्र, जो लोकनिर्माण भवन में जूनियर इंजीनियर है, इसलिए सस्पेंड होता है कि उसने सड़क निर्माण संबंधी घोटाले की सूचना अपने रिपोर्ट में दी थी। "इग्जीक्यूटिव इंजीनियर ने ए. सी साहब को कनिष्ठ अभियन्ता प्रमोद वर्मा को सस्पैंड कर देने का प्रस्ताव भेजा। ए. सी ने चीफ को, चीफ ने इंजीनियर-इन-चीफ को लिखा। ठेकेदार के आग्रह पर मंत्री ने भी इंजीनियर-इन-चीफ को आदेश दिया। इंजीनियर-इन-चीफ ने चीफ को, चीफ ने ए. सी को, ए. सी ने इग्जीक्यूटिव इंजीनियर को भेजा कि उनके कार्यालय का कनिष्ठ अभियंता प्रमोद वर्मा सस्पैंड किया गया।"[2] नीतियों और नियमों को लागू करने के

---

1. अभयकुमार दुबे भारत का भूमंडलीकरण, 2003 पृ. 288
2. अखिलेश शापग्रस्त, 1997 पृ. 22

लिए नियुक्त नौकरशाही यहाँ ईमानदारी को दबाकर बेइमानी को सामाजिक वैधता प्रदान करती है। अतः नौकरशाही, पूँजीपतिवर्ग और राजनीतिज्ञों के बीच का यह गठबंधन वर्तमान भारत का अभिशाप है।

राजनीति और न्याय

जनतांत्रिक अवधारणा का आधार है न्याय। न्याय के अभाव में जनतंत्र का कोई अस्तित्व ही नहीं है। स्वतंत्रता एक लोकतांत्रिक मूल्य है जिसके साथ न्याय का घनिष्ठ संबंध है। स्वतंत्रता से युक्त समाज को ही हम आदर्श समाज कहते हैं। यही नहीं, जो सत्ताधारी अपनी ताकत से स्वतंत्रता का हनन करता है उसे अन्यायी कहा जाता है। अतः न्याय और स्वतंत्रता का संबंध बहुत गहरा है। 1947 के बाद भारत में जनतंत्र की स्थापना हुई थी, लेकिन आज जनतंत्र का अस्तित्व सिर्फ संविधान तक ही सीमित है। व्यापक व्यावहारिक क्षेत्र इससे वंचित है। सत्ताधारियों द्‌वारा स्वतंत्रता का हनन एक आम बात है। यह राष्ट्रीय अन्याय कैसे प्रकट होते हैं? एक जनतांत्रिक देश में अक्सर प्रत्यक्ष ढंग से स्वतंत्रता का हनन नहीं होता। यह हनन किसी 'न्याय' या 'नीति' की ओट में किया जाता है।

आजकल सत्ताधारी अभिजात वर्ग अपनी सुविधाओं को बढ़ाकर ऐशो-आराम की ज़िन्दगी जीना चाहता है। इसलिए वह अक्सर शहर की सुविधाओं में वृद्धि करके शासन की चमकदमक दिखाने का प्रयास करता है। शहरों के इस 'सौन्दर्यकरण' के दौरान उसे गरीब लोगों की झुग्गियाँ शहर के चेहरे पर लगा बदनुमा धब्बा लगता है। उन गरीबों को आसपास का इलाका बदसूरत बनाने, बीमारियाँ फैलाने, अपराधियों को पालने और

नागरिक सुविधाओं का गैर कानूनी इस्तेमाल करने का जिम्मेदार ठहरा दिया जाता है। फलतः गरीबों को शहर से दूर रखने का कार्यक्रम चलाता है। सौन्दर्यकरण के नाम पर झुग्गी सफाया कार्यक्रम आदि चलाकर एक बड़े तबके को, उसके यथार्थ को दुनिया की नज़रों से गायब करा देता है। सत्ताधारी वर्चस्व की इस अमानवीयता को 'न्याय' का चेहरा प्रदान करता है। तब गरीबों का शहर में अपने अस्तित्व को बचाये रखने का हर प्रयास 'न्याय विरोधी' बन जाता है। यहाँ तक कि उसे अपने ही देश में अपने ही शहर में अजनबी या घुसपैठिया घोषित कर देता है। अधिकारियों की इस अमानवीयता को समकालीन कहानीकारों ने अपनी रचना का विषय बनाया है। रमेश उपाध्याय की 'शेष इतिहास' कहानी का रामा एक फेरीवाला है। वह एक असुरक्षित जीवन जीनेवाला है। वह इसलिए असुरक्षित है कि उसे अपनी आजीविका के लिए बाज़ार में ठेला खड़ा करना पड़ता है। इसलिए रामा अधिकारियों की दृष्टि में गुनहगार है। उसके परिवार का अस्तित्व सिर्फ रामा का जेल जाने तक ही है।

....और फेरीवाले की समझ में यह नहीं आता था कि जब हर किसी को अपना रोज़गार करने की आज़ादी है तो बाज़ार में ज़रा ठेला खड़ा कर लेने पर सिपाही डंडा क्यों मारता है, चालान क्यों कर देता है और जब-तब उसकी गाढ़ी कमाई में से रुपया-अठन्नी क्यों मार ले जाता है।"[1] सुविधाओं की चकाचौंध में पड़े अधिकारी वर्ग आमआदमी के यथार्थ को नज़रअंदाज़ कर देता है। अभिजात वर्गों की सुविधाएँ बढ़ाकर अपनी जेब

1. रमेश उपाध्याय चर्चित कहानियाँ (सं), शेष इतिहास, 1995 पृ 31

भरने के लिए तैयार बैठे अधिकारी वर्ग की अमानवीयता के संबंध में अभयकुमार दुबे ने इस प्रकार लिखा है "अपने देश की जड़ से कट चुके संपन्न तबके को हर विदेशी चीज़ प्यारी लगती है। और, फिर जब उसके पास पैसा है तो वे इनका उपभोग क्यों न करें। इस चकाचौंध में फँसे अभिजनों को फेरीवाले अतिक्रमणकारी, अवैध और विकास में बाधक नज़र आते हैं। हमारी सरकार निजी क्षेत्र और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हक में कानूनी अड़चनों को दूर करने के लिए कानूनों में उनके मनमाफिक सुधार कर रही है, मगर फुटपाथ पर या गलियों में कारोबार करनेवाले लोगों पर सख्त पहरा बिठाया जा रहा है। इन्हें अपना धंधा करने की इजाजत तभी मिलती है जब ये नगर-निगम और पुलिस के लोगों की जेबें गरम करें।"[1] अतः कह सकते हैं कि स्वतंत्रता एक अप्राप्य राष्ट्रीय न्याय बन गयी है। जिस स्वतंत्रता के लिए अनगिनत लोग शहीद हुए थे, उनकी कुर्बानियाँ अब एक मूल्यवान बिकाऊ चीज़ बन गयी हैं। जो इसका सफल क्रय-विक्रय कर सकता है वह सत्ताधारी बन जाता है। तब राजनीतिक मूल्य महज दिखावे की चीज़ बनकर रह जाता है। हिमांशु जोशी की 'जलते हुए डैने' कहानी में सेमुअल रामदास नामक एक डाक्टर है। वह आदिवासियों के लिए सारी सुखसुविधाओं को छोड़ता है। अंत में वह आदिवासियों के साथ सरकारी पिट्टुओं के हमले से मारा जाता है। लेकिन अब उनकी कुर्बानी को कोई याद नहीं करती। "जहाँ पर सेमुअल रामदास शहीद हुए थे, वहाँ अब बाजार बन गया है। शहीद चौक के नाम से एक चबूतरा है जिस पर कभी-कभी कस्बे के गुंडे ताश खेलते हैं।"[2]

1. अभयकुमार दुबे भारत का भूमंडलीकरण, 2003 पृ. 311
2. हिमांशु जोशी अगला यथार्थ (सं), जलते हुए डैने, 2006 पृ. 113

अतः राजनीति आज न्याय के नाम पर किये जानेवाला एक बिजनेस है। इसका उद्देश्य सिर्फ मुनाफा कमाना मात्र है।

सत्ता द्वारा स्वतंत्रता का निषेध शोषण के उद्देश्य से ही नहीं, बल्कि न्यायपूर्ण अधिकारों के संघर्ष के दमन के लिए भी किया जाता है। स्वतंत्र विचारों को सत्ता केंद्रों पर प्रहार करने की शक्ति है। इसलिए सत्ता हमेशा स्वतंत्र विचारों को या अपने खिलाफ उठनेवाली हर आवाज़ को दबा देती है। सत्ता स्वतंत्र विचार व्यक्त करनेवालों को नक्सलवादी या आतंकवादी घोषित करके उसे कानून के कटघरे में खड़ा कर देती है। कानून आज अधिकारियों के हाथ का हथियार बना हुआ है। इसलिए यहाँ सत्ताधारियों के हर अन्याय को न्याय संगत ठहरा दिया जाता है। फलतः सत्ता द्वारा की जानेवाली भारी हत्याओं को सिर्फ प्रतिरोध का हिस्सा बनाकर प्रस्तुत कर दिया जाता है और आमआदमी की बुनियादी ज़रूरतों के लिए किये जानेवाले संघर्ष को आतंकवाद ठहरा दिया जाता है। रमेश उपाध्याय की 'शेष इतिहास' कहानी के मास्टर विश्वजीत को सिर्फ इसलिए आतंकवादी घोषित कर दिया गया कि उन्होंने फ्री डिस्केशन के वक्त समाजवाद पर अपना विचार प्रकट किया था। स्कूल के प्रिन्सिपल उनपर बच्चों को बरगलाने का आरोप लगाता है। "फ्री डिस्कशन का मतलब यह होता है कि आप स्कूल के लड़कों को बरगलायें? और मैं तो वहाँ मौजूद था, मैं ने खुद देखा कि आप देश के कानून को भी चुनौती दे रहे थे। आइ कैन कोट योर ओन वर्ड्स। आपने कहा था - कानून भी वे ही बनाते हैं जिनके हाथों में शोषण की सत्ता होती है। बोलिए, नहीं कहा

था आपने?"[1] एक जनतांत्रिक देश में अब समाजवाद पर बोलना नक्सलवाद है क्योंकि सत्ता की तानाशाही को अब कानून की वैधता प्राप्त है।

अधिकार कभी भी सामाजिक न्याय का पक्षधर नहीं है। शोषण, आतंक और अन्याय से आमजनता को बचाने के लिए प्रतिबद्ध न्यायालय आमआदमी को किस तरह दबा देता है? आज भारत में न्याय महंगा और जटिल है। भारतीय न्याय प्रक्रिया अधिवक्ताओं व विधि विशेषज्ञों की योग्यता पर आश्रित है। सामान्य कोटि के अधिवक्ता भी इतने महंगे हैं कि उन तक मध्यवर्ग के नागरिकों की पहुँच आसानी से नहीं हो पाती, तो निर्धन वर्ग के लिए वहाँ तक पहुँचना असंभव ही है। औसत आदमी की पहुँच के बाहर की इस न्याय-व्यवस्था का चित्रण संजीव ने अपनी 'अपराध' कहानी में किया है। इसमें न्याय व्यवस्था के संबंध में कहा गया है "हम जिसे न्याय कहते हैं, वह तथ्य सापेक्ष है, सत्य सापेक्ष नहीं है। तथ्य का प्रमाण स्वयं सामर्थ्य सापेक्ष है, अतः निर्णय लचीला होता है।"[2] ऐसे न्यायालय में न्याय के लिए की जानेवाली चीख या सत्य का बयान बहुत महंगा साबित होता है। जिसप्रकार सत्ता की निरंकुशता सत्य के खुलासे को 'नक्सलवाद' की राजनैतिक परिभाषा से बंद करा देती है उसीप्रकार न्यायालय भी 'न्यायपालिका की अवमानना' से सत्य की आवाज़ को दबा देता है। संजीव की 'अपराध' कहानी में सचिन नामक पात्र एक सामाजिक कार्यकर्ता है। कानून की दृष्टि में वह 'नक्सलवादी'

---

1. रमेश उपाध्याय चर्चित कहानियाँ (सं), शेष इतिहास, 1995 पृ. 28
2. संजीव - आरोहण (सं), अपराध, 2006 पृ. 14

है। व्यवस्था की अमानवीयता के खुले प्रतिरोध ने उसे 'अपराधी' बनाया है। न्याय कम आयवाले के लिए अप्राप्य होने के कारण उसे भी न्याय नहीं मिलता। साथ ही साथ उन्होंने न्यायालय में इस सच का ऐलान किया कि "वकीलों और जजों का काला गाउन न जाने कितने खून के धब्बों को छुपाए हुए हैं। परिवर्तन के महान रास्ते में एक मुकाम ऐसा भी आएगा, जिस दिन इन्हें अपना चरित्र बदलना होगा, वरन् इनकी रोबीली बुलंदियाँ धूल चाटती नज़र आयेगी।"[1] अब न्यायालय में सत्य का एलान 'न्यायपालिका की अवमानना' है। अपने मान, सम्मान के प्रति न्यायालय की यह अधिक संवेदनशीलता शोषण को पानी देता है। नरेंद्र मोहन के अनुसार "न्यायपालिका की अवमानना को लेकर जो कानून अंग्रेज़ों ने बनाया था, लगभग वही कानून आज भी लागू है, जबकि यह कानून संविधान की उद्देशिका व लोकतंत्र के आदर्शों से बिल्कुल भी मेल नहीं खाता। अदालत की अवमानना को लेकर जो कानून सामंतवादी व उपनिवेशवादी सत्ता ने बनाया था, उसका उद्देश्य न्यायिका निरंकुशता व बर्बरता के प्रति भारत की जनता का मुंह बंद रखना था।"[2] अतः न्यायपालिका सत्ता के एक अंग के रूप में कार्य करके बेगुनाहों को 'अपराधी' घोषित कर देता है। इस तरह वह अपने अपराधीपन को बड़ी होशियारी से सरलीकृत कर देता है।

---

1. संजीव आरोहण (सं), अपराध, 2006 पृ. 15
2. नरेंद्र मोहन आज की राजनीति और भ्रष्टाचार, 1997 पृ. 126

राजनीति और धर्म (सांप्रदायिकता)

राजनीति का धर्म से घनिष्ठ संबंध है। धर्म विहीन राजनीति का अर्थ होता है अधर्म प्रधान राजनीति। इसलिए राजनीति में धर्म का समावेश बहुत ज़रूरी है। यहाँ धर्म से तात्पर्य न्याय और कर्म से है। लेकिन आज की राजनीति में धर्म शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में नहीं होता। धर्म को संकीर्ण एवं स्वार्थी उद्देश्य से राजनीति के साथ जोड़ा जाता है। परिणामतः भारतीय समाज की पहचान अनेक धार्मिक समुदायों में बँटा जाता है। तब प्रत्येक नागरिक 'भारतीय' की विशाल छत्रछाया से धकेलकर अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक में विभक्त हो जाता है। भारतीय समाज की ऐसी धार्मिक परिकल्पना सामाजिक समरसता को नष्ट करा देती है। रोमिला थापकर के अनुसार "बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक समुदायों की परिकल्पना एक आधुनिक, उन्नीसवीं सदी की परिकल्पना है, जो संख्या तथा प्रतिनिधित्व पर आधारित है। बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक चरित्र, किसी खास धर्म को माननेवालों की संख्या के लिहाज से बनता है। एक प्राथमिक सामाजिक इकाई के रूप में धार्मिक समुदाय की परिकल्पना को सिर्फ धार्मिक पहचान तक सीमित कर देने से दूसरी तरह के वर्गीकरणों तथा दूसरे ढंग की पहचानों की संभावना बाधित होती है।"[1] अतः कह सकते हैं कि सिर्फ धार्मिक पहचान तक सीमित रहनेवाली यह सामाजिक परिकल्पना कभी भी राष्ट्रीय भावना को बढ़ावा नहीं देती।

---

1. मालिनी भट्टाचार्य (सं) अयोध्या कुछ सवाल, रोमिला थापर सांप्रदायिकता और इतिहास, 1994 पृ. 20

धर्म के राजनैतिक इस्तेमाल के लिए राष्ट्रीय भावना को धार्मिक भावना के साथ जोड़ते हैं। इसके तहत बहुसंख्यकों की जातीयता को 'राष्ट्रवाद' नाम दिया जाता है और अल्पसंख्यकों की राजनैतिक ईमानदारी को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। फलतः बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता फासीवाद का रूप धारण कर लेती है और अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता अलगाववाद का। बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता कैसे अपना फासीवादी रूप कायम रखती है? तानाशाही के लिए बहुसंख्यकों का इस्तेमाल करनेवालों के हाथ का कारगर हथियार है 'हिन्दुत्व' और 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'। वास्तव में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का संबंध किसी एक मजहब से नहीं है। लेकिन यहाँ राष्ट्र की संस्कृति को संकीर्णता प्रधान हिन्दुत्व शब्द का आश्रय लेकर परिभाषित किया जाता है। हिन्दुत्व कोई धर्म दर्शन नहीं है। वह एक राजनीतिक विचारधारा है। हिन्दुत्व का नारा एक मुखौटा है। इसका धार्मिक अर्थ में हिन्दुत्व की मूल भावना से कुछ लेना-देना नहीं है। सच्चिदानंद सिंहा के अनुसार - "हिन्दू धर्म और हिन्दुत्व की राजनीति का संबंध विष और अमृत का है एक में दूसरे का निषेध है। असल में 'हिन्दुत्व' के नारे का आविष्कार इसके साथ जुडे 'एकात्मक राष्ट्र' की अवधारणा की ज़रूरत की पूर्ति के लिए हुआ।"[1] हिन्दुत्व की यह एकात्मवादी राष्ट्रीयता भारतीय एकता की जड़ पर प्रहार करती है। हिन्दुत्व की राजनीति उन समूहों में, जो अपने को हिन्दू नहीं मानते, भय और असहाय होने का भाव पैदा करती है। अखिलेश ने 'अंधेरा' कहानी

---

1. राजकिशोर हिन्दुत्व की राजनीति, 1996 पृ. 28

में गैर हिन्दुओं की इस असुरक्षित अवस्था का चित्रण किया है। इसमें प्रेमरंजन और रेहाना नामक हिन्दू एवं मुसलमान प्रेमी-प्रेमिका दंगे में फँस जाते हैं। दोनों दंगे से बचने के लिए भागते हैं। अचानक पुलिस को देखकर प्रेमरंजन आश्वस्त महसूस करने लगता है, पर रेहाना नहीं। रेहाना के अनुसार "पुलिस सिर्फ हिन्दुओं के लिए है। ....दंगे मुहब्बत की कब्रगाह होते हैं। इस वक्त हकीकत यही है कि मैं मुसलमान हूँ और पुलिस की संगीनों के साये में तुम जितने महफूज हो मैं उतनी ही खतरे में।"[1] अतः अपने ही देश में मुसलमान लोग असुरक्षित महसूस करने लगते हैं। परिणामतः मुसलमान लोग अधिक कट्टर बन जाते हैं और धार्मिक कवच में सुरक्षा की तलाश करने लगते हैं। वे लोग समाज में अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान बचाये रखने की चिंता से काम करने लगते हैं। परिणामतः वे कठोर मूल्यों को लागू करने लगते हैं और बाहरी दुनिया के बदलावों को न देखकर अंतर्मुखी बन जाते हैं। नमितासिंह की कहानी 'राजा का चौक' में छोटा बच्चू और बड़ा बच्चू में गहरी मित्रता है। बचपन में छोटा बच्चू को बच्चू खां नाम देनेवाले मौलवी को दोनों ने टगडी मारा था। लेकिन जब दोनों जवान हुए तो छोटा बच्चू बच्चू खां बन जाता है। बड़ा बच्चू के पूछने पर छोटा बच्चू ने अपने इस परिवर्तन के संबंध में इसप्रकार कहा है "मैं छोटका बच्चा से बच्चू खां हो गया जा दिन से बताऊँ ! जा दिन तुम होटल वारे की नौकरी में चौक छोडि गए। जा दिन से, जब रसूल सेठ गुलाबचंद के कारखाने के बाहर मारा गया

---

1. अखिलेश अंधेरा, 2006, पृ. 161

और बताऊँ !! जा दिन से जब सेठ नसीर अहमद ने जिंदा रखने की खातिर अनाज-पानी से मदद करी और अपने कारखाने में नौकरी दी। आब आय गई समझ में।"[1] अतः मुसलमानों का यह 'अल्पसंख्यक चरित्र' मुस्लिम समुदाय में लोकतंत्रीकरण न होने का परिणाम है। मुस्लिम समुदाय का यह 'अल्पसंख्यक चरित्र' उच्चवर्गीय मुसलमान सांप्रदायिक नेतृत्व के लिए सुविधाजनक है। 'खतरे' का नाम लेकर वह पिछड़ी जातियों एवं वर्गों को आगे बढ़ने से रोक देता है। इसप्रकार वे अपने नेतृत्व को सुरक्षित रखते हैं। मुस्लिम समुदाय के उच्चवर्ग विभिन्न मुस्लिम संस्थानों को अपनी जागीर की तरह चला रहे हैं। इनमें मुस्लिम समाज के सभी समूहों को प्रतिनिधित्व नहीं देते। ये उच्चवर्ग प्रशासनिक ढाँचे में मुसलमानों के आनुपातिक प्रतिनिधित्व की माँग उठाकर नेतृत्व हासिल करते हैं। पर वे कभी भी मेहनतकश और तंगहाल मुसलमानों के मसलों को आगे नहीं रखते। इनके शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक सवालों को अनदेखा कर देते हैं। ये उच्चवर्ग हमेशा कुछेक भावनात्मक मुद्दों के इर्द-गिर्द ही घूमते हैं। इम्तियाज अहमद के अनुसार "मुस्लिम समुदाय में सरकारी दखल या पहल से सुधार हों, इस बारे में इस समाज के लोगों की हिचक या आपत्तियों को तो आसानी से समझा जा सकता है, लेकिन उनको इस समुदाय के अंदर से ही शैक्षिक, मजहबी और सामाजिक सुधार की मुहिम शुरू करने से किसने रोका है। दरअसल समुदाय के अंदर लोकतांत्रिक सुधार न शुरू करने से किसने रोका है। दरअसल समुदाय

---

1. नमितासिंह - कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ (सं), राजा का चौक, 2004 पृ. 36

के अंदर लोकतांत्रिक सुधार न शुरू करने के पीछे असल में यह डर काम करता है कि ऐसी कोशिशों का नतीजा ऊँची जाति / वर्ग के मुस्लिम कुलीनों की विशेषाधिकार वाली स्थिति में गिरावट के रूप में ही सामने आयेगा।"[1] अतः कह सकते हैं कि मुसलमान सांप्रदायिक उच्चवर्गीय नेतृत्व केवल उन सुधारों को ही प्रोत्साहित करेंगे जिनसे उनके नेतृत्व सुरक्षित रहेंगे। मुसलमानों के शैक्षणिक सुधार अभियानों के पीछे यही भावना कार्यरत है। अब भी आम मुस्लिम परिवारों के बच्चे प्राथमिक शिक्षा मदरसों के ज़रिये प्राप्त करते हैं। कमज़ोर वर्ग के अनेक मुस्लिम परिवारों के लिए मदरसे ही अपने बच्चों को साक्षर बना पाने का एकमात्र स्रोत हैं। लेकिन इन मदरसों में आधुनिक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा देने की कोई योजना अभी तक मुस्लिम उच्च नेतृत्वों द्वारा नहीं हुई है। इसके बदले केवल मदरसों की संख्या बढ़ा दी गयी है। यहाँ के पाठ्यक्रम और शिक्षण विधि में जान-बूझकर संवाद, बहस, आलोचना और प्रश्नाकुलता जैसी चीज़ों को उभरने नहीं दिया गया। गरीब मुसलमानों के विकास की गति को अवरुद्ध करनेवाली इस शिक्षा पद्धति का उल्लेख नमितासिंह ने अपनी 'कर्फ्यू' कहानी में किया है। इसमें शकूर जो एक गरीब मुसलमान लड़का है, वह मौलवी के यहाँ पढ़ने के लिए जाता है। उसका सपना है कि वह भी मोहल्ले के एक मुसलमान वकील साहब के बच्चों की तरह मोटी-मोटी किताबें पढ़ें। लेकिन वकील की बेटी सायरा की किताब देखकर उसे पता चला - "उसे पहली दफा यह मालूम हुआ कि पढ़ाई भी

---

1. इम्तियाज़ अहमद भारतीय मुस्लिम समाज के आंतरिक कमज़ोरियाँ और उनका इलाज (लेख), हंस, अगस्त 2003 पृ. 19

अलग-अलग तरह की होती है। एक पढ़ाई सायरा बाजीवाली, अंग्रेजी की चिकनी तस्वीरोंवाली किताब की। एक पढ़ाई शकूर की, मौलवी साहबवाली.... सिर्फ कुरान की.... सिर्फ उर्दू की...."[1] इस तरह की शिक्षा पाकर निकलनेवाले लोग नेतृत्व के दकियानूसी को जारी रखेंगे। क्योंकि उनकी पढ़ाई में सामाजिक एवं आर्थिक परेशानियों की कोई चर्चा नहीं होती। धार्मिक सवालों पर भी तार्किक और खुले ढंग से चर्चा नहीं होती। कर्फ्यू कहानी में शकूर ने मौलवी साहब से अंग्रेज़ी न पढ़ाने का कारण पूछा तब मौलवी ने बताया - "अबे तख्ती तैयार कर अपनी। बाप रिक्शा खींचता है और बेटा अंग्रेजी पढेगा। आदमी क्यों पढ़ता है? ताकि अच्छा इन्सान बने। अच्छा मुसलमान बने। साहब बनने है क्या।"[2] अतार्किक इन्सान को ही अच्छा इन्सान या अच्छा मुसलमान का पद दिया जाता है। ऐसे मुसलमानों को उच्च नेतृत्व कोई भी भावनात्मक मुद्दों से जोड़कर अपनी उँगली पर नचा सकते हैं। साथ ही ऐसे अनपढ़, भावना में बहकनेवाले, अतार्किक लोग वोट बैंक भरने के मुहरे बन जाते हैं।

बहुसंख्यक सांप्रदायिक शक्तियों द्वारा निर्मित असुरक्षित माहौल में अल्पसंख्यकों का कट्टरपंथी बनना बहुत स्वाभाविक है। इस कट्टरपंथी धारणाओं के फलस्वरूप वे अपने धार्मिक दायरे में सुरक्षा की तलाश करते हैं। लेकिन कभी-कभी सांप्रदायिक शक्तियाँ जानबूझकर अल्पसंख्यकों को समाज की मुख्य धारा से हटाकर उसे कट्टरपंथी बनाने की साजिश कर रही हैं। स्वयं प्रकाश की 'पार्टीशन' नामक कहानी में कुर्बान भाई

1. नमिता सिंह कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ (सं), कर्फ्यू, 2004 पृ. 15
2. नमितासिंह कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ (सं), कर्फ्यू, 2004 पृ. 15

पार्टीशन की भीषणता को मन में झेलते हुए भी हिन्दुओं के प्रति आत्मीयता एवं विश्वास को सुरक्षित रखनेवाला व्यक्ति है। उसका यह आत्मीय भाव, वर्गरहित उदात्त मूल्यों पर विश्वास रखनेवाले लोगों के संगठन के रूप में बदलता जा रहा था। कुर्बान भाई की छवि बढ़ रही थी। यह बात सत्ताधारी स्वार्थी शक्तियों की आँखों में खटकने लगी। वे कुर्बानभाई पर कट्टरपंथिता का आरोप लगाकर उनको 'कुर्बान भाई' से 'मियाँ' में बदल देते हैं। जबरदस्ती से किये जानेवाले इस पार्टीशन के संबंध में कुर्बान भाई इसप्रकार कहते हैं "आप क्या खाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था। हुआ था नहीं, हो रहा है, ज़ारी है....।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि सांप्रदायिकता सिर्फ हिन्दू और मुसलमानों की धार्मिक भावना से जुड़ा मसला नहीं बल्कि वह तो एक विशिष्टवर्गी चेतना है। आलोचक नामवरसिंह के अनुसार "हमारे समाज में विभाजन के साठ बरस बाद भी, आज भी खुलकर बातचीत दोनों (हिन्दु और मुस्लिम) के बीच लगभग नहीं हो पाती है। हम यह नहीं जानते कि जो अल्पसंख्यक हैं, मुसलमान हैं जब वहाँ कोई हिन्दू नहीं होता, आपस में क्या बात करते हैं, हम नहीं जानते। बिलकुल नहीं जानते। खुलते नहीं वो। आज भी यह स्थिति है। यह जो पार्टीश हो गया है, एक बार जो हुआ, ऐसा समझा गया कि वो खत्म हो गया, वो खत्म नहीं हुआ है, इस गहरी सचाई को, आज के जीवन की, बताना कि वो भी मौजूद है। यद्यपि कहानी (पार्टीशन) पन्द्रह-बीस साल पहले लिखी है। लेकिन मैं देखता हूँ कि उसके बाद वर्ग

---

1. स्वयंप्रकाश आएँगे अच्छे दिन भी (सं), पार्टीशन, 1991 पृ. 42

समस्या आज भी कायम है।"[1] आज यह हिन्दुओं और मुसलमानों के विशिष्ट लोगों की आर्थिक एवं राजनैतिक महत्वाकांक्षापूर्ति का एक बड़ा ही अमानवीय हथियार है।

सांप्रदायिकता का एक और भयावह संस्करण है आतंकवाद। वैसे आतंकवाद का अर्थ सत्ता विमर्श के संदर्भ में बदलता रहता है। यहाँ आतंकवाद से तात्पर्य अधिकार चेतना से प्रेरित होकर सांप्रदायिक शक्तियाँ द्वारा फैलाये जानेवाले वहशीपन से है। वे लोग अपने अलग क्षेत्र की माँग के लिए हथियार उठाते हैं। लेकिन अपने इस संकीर्ण हित को धार्मिकता का मुखौटा पहना देते हैं। कश्मीर का मसला ऐसे ही धार्मिकता के नाम पर उठनेवाला स्टेट टेररिज्म है। यहाँ आतंकवादी धार्मिक भावना को भटकाकर अपना मकसद साधते हैं। इस तरह के संघर्षों में सिर्फ एक धर्म के लोग ही नहीं मरते, बल्कि हर धर्म के लोग मरते या विस्थापित होते हैं। आतंकवाद द्वारा फैलायी जानेवाली इस दुरवस्था का चित्रण चन्द्रकांता ने अपनी 'बदलते हालात में' शीर्षक कहानी में किया है। इसमें अजय, उमा और उनकी माँ को एक ज़माने में अपना जन्म स्थल कश्मीर छोड़ना पड़ा था। वहाँ से जाने के बाद भी वे लोग वर्षों तक अपने घर की यादों से जुडे रहे। बरसों बाद वे लोग अपने घर वापस आते हैं। लेकिन तब तक उस घर को कुछ वर्चस्ववादियों ने अपने अधीन में कर लिया था। उस घर में इन वर्चस्ववादियों के साथ एक विस्थापित मुसलमान वृद्ध

1. नामवरसिंह से पल्लव की बातचीत - वर्ग चेतना को कभी नहीं भूलते स्वयं प्रकश, बनास, बसन्त 2008, पृ. 113-114

ठहरा हुआ था। वह वृद्ध असली मकान मालिकों के देवताओं से जुड़ी भावनाओं की कदर करता है। इसलिए वह देवताओं की मूर्तियाँ रखी अलमारी की चाबी संभालकर रखता है। उस वृद्ध की वजह से अजय और उमा शिवजी की मूर्ति के रूप में अपनी माँ के लिए यादों का बृहद् कोष ले जाने में सफल हो जाते हैं। जिन हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के नाम पर कश्मीर को खून खराबे का अड्डा बना रहा है वहाँ की वास्तविक स्थिति कुछ और है। स्टेट टेररिस्जम ने दोनों धर्मों के लोगों को वहाँ से निष्कासित कर दिया है। अतः कश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम के बीच का अलगाव एक स्थित वास्तविकता नहीं बल्कि बनायी गयी वास्तविकता है। लेखिका खुद इस यथार्थ से गुज़री है। लेखिका के अनुसार "आज भी मुझे मुहम्मद जू की याद आती है जो घर का नौकर होने के बावजूद मेरे लिए 'काका' 'बाबा' बन गया था, जिसकी जेब में आज.भी मेरी और मेरे बहन-भाई की साँझी तस्वीर पड़ी है, जिसे मैं ने पोशनूल की वापसी में याद कर अपना ऋण उतारने की कोशिश की है। बदलते हालात में अपनी ज़मीन से बिछुड़ने का दुःख मुझे भी उतना ही सालता है जितना किसी भी निष्कासित को।"[1] अतः कह सकते हैं कि क्षेत्रीय आतंकवाद का बाहरी रूप कुछ और है और भीतरी रूप कुछ और। इसलिए क्षेत्रीय आतंकवाद के मूल तक पहुँचना बहुत ही मुश्किल है। इन आतंकवादियों ने धर्म को ढाल की तरह इस्तेमाल किया है। क्षेत्रीय आतंकवाद के संबंध में राजेन्द्र यादव ने लिखा है ....निश्चय ही कश्मीर या असम की समस्याएँ

---

1. चंद्रकांता सूरज उगने तक भूमिका, 1994 पृ. 13-14

धार्मिक नहीं है, राजनैतिक हैं। जब तक उनके राजनैतिक हल नहीं निकाले जाऐंगे, यह सब चलता रहेगा। हम और तुम जैसे भावुक और भोले लोग मरनेवालों की संख्या गिन-गिनकर छाती-फूटते रहेंगे और बिल्कुल भी ध्यान नहीं देंगे कि असली खिलाडी कौन है और उनके खेल कहाँ-कहाँ चल रहे हैं? वे हमारे यहाँ अस्पतालों और स्टेशनों पर बम फोडेंगे तो पाकिस्तान में स्कूलों और बाज़ारों में, या कश्मीर की तरह एक-दूसरे की बस्तियाँ और मकान जलायेंगे। कभी-कभी स्टेट टेररिज्म सहानुभूति या भ्रांति फैलाने के लिए खुद इस तरह की हरकतें करता है।"[1] अतः सांप्रदायिकता धर्म की अधिकार चेतना को सुरक्षा प्रदान करने के साधन के रूप में इस्तेमाल करते हैं। लेकिन सांप्रदायिकता हो या क्षेत्रीय आतंकवाद हो उसे सिर्फ राजनैतिक कार्यवाइयों से दूर नहीं कर पायेंगे। क्योंकि आज सांप्रदायिकता क़ी समस्या का सबसे ज्यादा प्रचार राजनीति ही कर रही है। इसलिए विभिन्न सांप्रदायिक समूह सरकार की सांप्रदायिकता विरुद्ध प्रचार को संदेह की दृष्टि से ही देखता है। अतः कह सकते हैं कि विश्वसनीयता सांप्रदायिकता के विरुद्ध के संघर्ष की पहली शर्त है।

राजनीति और पूँजीवाद

राजनीति को निरंकुश अधिकार का रूप बनाने में पूँजीवाद का योगदान है। पूँजीवाद ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले ही राजनीति के साथ गठबंधन किया था। इस वर्ग ने स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम दिनों में अपने

---

1. राजेन्द्र यादव - बाहरी और भीतरी हिन्दू : एक संवाद (लेख), हंस - सितम्बर 2000 - पृ. 6

को राजनीति से जोड़ दिया था। भारत में जनतंत्र की स्थापना करना इनका मकसद नहीं था। बल्कि वे लोग ब्रिटीश साम्राज्यवादी शक्तियों से अधिकार छीनकर अपना वर्चस्व कायम रखना चाहते थे। इसलिए जनतांत्रिक व्यवस्था स्थापित होने के बाद शासन का डोर उन पूँजीपतियों के हाथ में चला गया जो जनता का हमदर्द बना हुआ था। फलतः जनता शासन के केंद्र से हट गयी। जनतंत्र व्यवस्था की इस विफलता के संबंध में आलोचक प्रियदर्शन ने कहा है कि "प्रजातंत्र का मुखौटा ओढ़ कर जो ताकतें इस देश की सत्ता पर काबिज हैं या जिनमें यह सत्ता हासिल करने की आपाधापी है, वे भ्रष्ट और बेईमान हैं ही, कहीं-कहीं सामंतवादी और कहीं-कहीं फासिस्ट मनोवृत्तियों और महत्वाकांक्षाओं से परिचालित भी हैं और उनके लिए इस देश की प्रजातांत्रिक प्रक्रिया महज एक सुविधा, महज एक सीढ़ी हो गयी है, जिसे वे मनचाहे आधारों पर टिका कर ऊपर पहुँचाने की कोशिश करते हैं।"[1] शासक वर्ग की यह महत्वाकांक्षा पूँजीवादी व्यवस्था को बढ़ावा देती है। वर्तमान राजनीति में पूँजीवाद का हस्तक्षेप किसप्रकार है? किसप्रकार यह जनतांत्रिक मूल्यों को नष्ट करा देता है? पूँजीवादी व्यवस्था और सत्ताधारियों के बीच के संबंध का आधार है भोगवाद। अधिकार और सुख सुविधाओं के लिए शासक वर्ग हर तरह के जनतांत्रिक मूल्यों को ध्वंसित करता है। आज राजनीति एक बिजिनेस बन गयी है। लाभ कमाना उसका एकमात्र उद्देश्य है। दूधनाथसिंह की 'गुप्तदान' कहानी में राजनीति का धंधा करनेवालों का चित्रण है। इसमें

---

1. राजकिशोर (सं) भारत का राजनीतिक संकट, प्रियदर्शन नेतृत्व का सूखा (लेख), 1994, पृ. 62

पाँडेजी नामक एक पात्र है। उसके लिए राजनीति एक बिज़िनेस है। किसी को कुछ काम निकालना हो तो वह पैसे लेकर बडे अफसर और मंत्री से काम चलाता है। वह बड़ी-बड़ी बातें करके ग्राहकों को पटा देता है। अब सब लोग जानते हैं कि पाँडेजी पोलिटिक्स का बिजिनेज़ करनेवाला है। आश्चर्य की बात यह है कि किसी को यह काम अनुचित नहीं लगता। "रास्ते में कोई मिला तो पूछेंगे आजकल क्या कर रहे हो? जवाब :- कुछ नहीं यार, 'पालिटिक्स' कर रहे हैं। दूसरा आदमी बिना अचम्भा जाहिर किये पूछेगा 'कहीं कुछ लगा?' सामनेवाला कहेगा कहाँ यार, सब साले खुद ही खा रहे हैं।"[1] आज लोग सिर्फ कमाने के उद्देश्य से राजनीति में आते हैं। अतः शासक खुद शोषक बन जाता है।

सत्ताधारियों का भोगवाद उन्हें आमआदमी से दूर ले गया है। जनता के यथार्थ या उनकी समस्याएँ अब कोई मायने नहीं रखतीं। जनता से भोगप्रिय सत्ताधारियों के स्पष्ट अलगाव के संबंध में असगर वजाहत ने अपनी 'राजधानी के नीचे' कहानी में प्रतीकात्मक ढंग से इसप्रकार लिखा है - "राजधानी अपनी पूरी रफ्तार, यानी एक-सौ पच्चीस किलोमीटर की घंटा पर आ चुकी थी। जिन पटरियों पर चल रही थी उनका क्या हाल हो रहा होगा। ज़मीन शायद काँप रही हो। धूल का बवंडर उठ रहा हो। मकान शायद हिल रहे हों। लोग शायद दूर खड़े हो गए हों। लेकिन अंदर संगीत बज रहा था। बाहर की हवा बाहर से अंदर नहीं आ सकती थी। अंदर की हवा बाहर नहीं जा सकती थी। तापमान तय था। दूधिया रोशनी

---

1. दूधनाथ सिंह माई का शोकगीत (सं), गुप्तदान, 2004 पृ. 46

में नहाए मुसाफिर राजधानी में ऊँघ रहे थे। ताश खेल रहे थे। खुसपुसा रहे थे। ठहाके लगा रहे थे। चाय -कॉफी पी रहे थे। रंगीन पत्रिकाओं के पृष्ठ उलट रहे थे।"[1] जनता से दूरी रखने का एक परिणाम है उसके यथार्थ की उपेक्षा। उसका यथार्थ सत्ताधारियों के हाथ के घुमाव-फिराव की वस्तु बन गयी है। वह अपनी मर्जी एवं सुविधानुसार यथार्थ को सरल एवं गंभीर बना देता है। 'राजधानी के नीचे' कहानी में विदेश से आनेवाला एक भारतीय आदमी कहता है कि विदेशी भारतीयों को गरीब मानता है। तब उसके साथ राजधानी ट्रेन में बैठा हुआ एक धनवान कहता है "मैं समझाता हूँ आपको.... वह हमारी सभ्यता है, हमारी संस्कृति है.... यानी कल्चर है।"[2] आगे वह कहता है कि भारतीय इसलिए कम कपडे पहनते हैं कि यह यहाँ के वातावरण के अनुकूल है। "क्या गाँधीजी गरीब थे? हो-हो-हो.... अरे भाई साहब रियासत के दीवान के बेटे थे... हमारी तो परंपरा है। हमारे ऋषि-मुनि क्या गरीब थे।"[3] यहाँ हाशिये पर धकेल दिये गये लोगों के ज्वलंत यथार्थ को बहुत ही सरलीकृत करके देखा गया है। संपन्नता की ऊँचाइयों पर खडे होकर नीचे देखने पर नीचे का यथार्थ छोटा ही दिखेगा। राजधानी की पूँजी की 'ऊँचाई' ने जनता को बहुत नगण्य बनाया है।

राजनीतिक नेतृत्व की जनता से जो अलगाव है उससे पलनेवाला एक तबका है राजनीतिक दलाल। वास्तव में यह भ्रष्ट राजनीति की उपज

---

1. असगर वजाहत - स्विमिंग पूल (सं), राजधानी के नीचे, 1990 पृ. 97
2. असगर वजाहत स्विमिंग पूल (सं), राजधानी के नीचे, 1990 - पृ. 98
3. असगर वजाहत स्विमिंग पूल (सं), राजधानी के नीचे, 1990 पृ. 99

है। अवसर के अनुसार वह कभी जनता का हमदर्द बनता है तो कभी शासक व उद्योगपतियों का। दोनों से वह अपना मकसद निकालता है। भ्रष्टाचारियों का एक दल तैयार कराने में इनका बड़ा हाथ है। काशीनाथ सिंह की कहानी 'माननिय होम मनिस्टर के नाम' में इनकी हरकत का स्पष्ट खुलासा है - "आप तो जानते ही हैं कानूनगो साब, करनेवाला कोई एक होता है और श्रेय लेनेवाले दस होते हैं। बात इतनी सी थी कि नेताजी ने कहा - देखो भाई, जब परदेश में नौकरी कर रहे हो तो सौ रुपल्ली के लिये तो कर नहीं रहे हो? आखिर तुम्हारे भी बाल-बच्चे होंगे, घर-दुआर होगा, माँ-बाप होंगे, खेती-बाड़ी होगी, शादी-ब्याह होंगे। तुम्हारी फिकर अगर हम नहीं करेंगे तो कौन करेगा? तुम्हें सौ-पचास का रोज़ ही काम दिला दिया करेंगे। मगर वह बड़ा घेंघू निकला। कहने लगा - यह दलाली हमें पसंद नहीं। जबकि उसे नेताजी ने समझाया भी कि देखो, काम तो होता ही है। तुम नहीं करोगे, तहसीलदार करेंगे, तहसीलदार नहीं करेंगे तो डिप्टी करेंगे और होगा यह सब तुम्हारी ही कलम से। फर्क बस इतना होगा कि जो तुम्हें मिलना चाहिए वह उन्हें मिलेगा।"[1] लोकतंत्र आज बहुत तेज़ी से भीडतंत्र में परिवर्तित होता जा रहा है। इस भीडतंत्र ने अपराधियों और माफिया के लिए राजनीति के द्वार खोल दिये हैं। इस भीडतंत्र को भ्रष्टाचार करने और छिपाने की भी क्षमता है। पूँजी और अधिकार के इस गठजोड का आरंभ चुनाव केंद्रों पर कब्जा कर अपना समर्थन बढ़ाने से आरंभ कर संपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों में व्याप्त रहता है। इस भीषण

---

1. काशीनाथ सिंह - आदमीनामा (सं), माननिय होम मनिस्टर के नाम, 1978 - पृ. 45

स्थिति के संबंध में श्यामाचरण दुबे ने लिखा है - "हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार बढ़ा है। बडे-बडे घोटाले चर्चित तो होते हैं, पर अन्ततः वे अनिर्णीत ही रहते हैं। भ्रष्ट नेताओं का पुनर्वास थोडे समय बाद हो जाता है। राजनीति ने पैसे और बाहुबल से नये समीकरण बनाये हैं। धन से सांसद और विधायकों की निष्ठा खरीदी जाती है। माफिया समूहों की भूमिका सशक्त हुई है। आपराधिक तत्वों का महत्व बढ़ा है। उन्हें राजनीतिक संरक्षण मिला है और सामाजिक स्वीकृति भी।"[1] इस राजनीतिक संस्कृति ने देश के सांस्थानिक ढाँचे को खोखला कर लोकतंत्र व्यवस्था की विश्वसनीयता को नष्ट कर दिया है।

भोगवादी राजनीतिक वर्ग में अपने लिए हर संभावित सुविधाएँ अपनाने की होड़ लगी रहती है। इस होड़ के आगे संवैधानिक, लोकतांत्रिक या नागरिक अधिकारों के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर भी राजनीतिक वर्ग शालीनता का मुखौटा बनाया रखता है। इसप्रकार वह अराजकता को रोकता है। लेकिन जब जनता द्वारा लोकतांत्रिक अधिकारों की माँग भोगवादी राजनीतिक वर्ग के अस्तित्व को हिलाने लगता है तो वह अपनी शालीनता का पोशाक उतारकर तानाशाही, पर उतर आता है। मधुकर सिंह ने अपनी 'हरिजन सेवक' कहानी में इस भीषण स्थिति का चित्रण किया है। इसमें पुलिस अपने अधिकारों के लिए लड़नेवाले मज़दूरों को आतंकवादी ठहरा देती है। "हमारा माथा फटता जा रहा था, यह नक्सलपंथ क्या होता है? हमें तो कुछ भी नहीं मालूम। हम तो सिर्फ यही जानते हैं

1. राजकिशोर भारत का राजनीतिक संकट (सं), श्यामाचरण दुबे, राजनीतिक संस्कृति के आयाम (लेख) 1994 पृ. 22

कि आधा पेट और अधनंगा रहकर मालिकों के पाँव अब कभी नहीं सहलाएँगे। क्या सही हक चाहनेवाले को नक्सलपंथी कहा जाता है?"[1] मज़दूरों द्वारा बुनियादी ज़रूरतों की माँग को भी 'व्यवस्था विद्रोह' की पोशाक पहनाया जाता है और बेरहमी से कुचल दिया जाता है। मानेजर पाण्डे के अनुसार "जब और जहाँ पूँजीवाद को शोषण और लूट की खुली छूट नहीं मिली है या उसका भविष्य खतरे में दिखाई पड़ा है, तब उसने राजनीति में उदार लोकतंत्र की पोशाक उतारकर अलग रख दी है और खूंखार दमनकारी सत्ता के रूप में काम किया है। आज कल पूँजीवाद के समर्थक बुद्धिजीवी भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि अब पूँजीवाद एक ऐसी बेलगाम और उत्तरदायित्व विहीन व्यवस्था है जिसे अपनी रक्षा के अलावा किसी मानवीय समस्या और ऐतिहासिक चुनौती की चिंता नहीं है। ऐसी स्थिति में वह एक ओर अनंत गरीबी, यातना और गुलामी पैदा करेगा तो दूसरी ओर समृद्धि से उपजी पशुता।"[2] अतः कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता, समता आदि लक्ष्य अर्थहीन हो गये हैं। तात्कालिक राजनीतिक लाभ ने इनकी परिभाषाएँ बदली हैं।

ऊपर उल्लिखित बातों से स्पष्ट हो जाता है कि आज भारत की जनतांत्रिक व्यवस्था में पूँजी का भोलभाला है। राजनीति में पूँजी का व्यापक दुष्प्रभाव पहले भी था। लेकिन कई संगठित शक्तियाँ इसके प्रतिरोध में खड़ी होती थीं। लेकिन आज स्थितियाँ बिल्कुल बदल गयी हैं। जनता की संगठित शक्ति क्षीण होती जा रही है। जो श्रमिक संगठन पहले

---

1. मधुकर सिंह हरिजन सेवक, 1984 पृ. 18
2. मैनेजर पाण्डे संकट के बावजूद, 1998 पृ. 11

पूँजीवादियों के खिलाफ खुले संघर्ष का एलान किया करता था, आज वह खुद उस पूँजीवाद के गिरफ्त में आ चुका है। प्रसिद्ध कहानीकार स्वयंप्रकाश के अनुसार "भारतवर्ष में श्रमिक आंदोलन विभाजित और भटका हुआ था और उसकी नीतियों से हम सहमत नहीं थे, साम्यवादी होने के बावजूद। क्योंकि हमें लगता था कि वहाँ राजनीति की चीज़ें कम मिल रही है और अर्थतंत्र ज्यादा हो रहा है और श्रमिक संस्कृति का सत्यानास ज्यादा हो रहा है।"[1] पूँजीवाद की गिरफ्त में आकर नष्ट हो रही श्रमिक संस्कृति का चित्रण स्वयं प्रकाश ने अपनी 'संहारकर्ता' कहानी में किया है। इसमें सत्यकांत नामक पात्र श्रमिक यूनियन को दलाल की भूमिका से उठाकर अपना अस्तित्व दिलाना चाहता है। लेकिन जब वह संगठन का सचिव बन जाता है तो उसे नेतागिरी की लत लग जाती है। जैसे ही वह प्रांतीय परिषद का संयुक्त सचिव बन जाता है तो वह वही काम करता है जिसका अंत करने के लिए वह यूनियन में आया था। जो संगठन पूँजीवाद के खिलाफ जन्मा था वह आज पूँजीपतियों को प्रश्रय देने के लिए बाध्य बन गया है। इसलिए पूँजीवादी शक्तियों से भिड़ने का आत्मविश्वास उसमें नहीं है। संगठित शक्ति ने पूँजीवादी शक्तियों के आगे अपनी हार स्वीकार कर ली है। संगठित शक्ति की यह हार प्रतिरोध की संभावना को नष्ट करा देता है।

---

1. स्वयं प्रकाश से पल्लव, मिहिर एवं हिमांशु पंडया की बातचीत, हमने जब वादिए - गुरुबत में कदम रखा था...., कथादेश दिसंबर 2004 पृ. 28

अधिकार और नवउपनिवेशवाद

आज स्वतंत्रता सिर्फ मिथक बन गयी है। अब भी उच्च साम्राज्यवादी शक्तियों की गिरफ्त से हमारी व्यवस्था पूर्णतः मुक्त नहीं हो पायी है। इन पूँजीवादी शक्तियों ने नयी-नयी तरीकों से देश पर अपना कब्जा जमा लिया है। साम्राज्यवादी शक्तियाँ जनतांत्रिक समाज में अपना कब्जा जमाती हैं। ये अमानवीय शक्तियाँ फौजी ताकत के ज़रिये नहीं बल्कि अपनी संधियों में हस्ताक्षर कराकर गरीब देशों की अर्थव्यवस्था को अपने अधीन कर लेती हैं। इस उच्च पूँजीवादी शक्तियों को हमारे देश के सत्ताधारी वर्गों का समर्थन प्राप्त है। शोषण के उद्देश्य से किये गये इस गठबंधन ने भूमंडलीकरण नामक 'मानवीय पोशाक' से अपने आप को ढक लिया है। सच्चिदानंद सिंहा के अनुसार - "भूमंडलीकरण के नाम पर अब औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था और इसकी उपभोक्तावादी संस्कृति को संसार के उन भागों पर लादने का प्रयास हो रहा है जहाँ अभी तक पारंपरिक या गैर पूँजीवादी व्यवस्थाएँ थीं।"[1] अतः भूमंडलीकरण मुख्यतः पूँजीवाद के हित में बनायी गयी अवधारणा और प्रक्रिया है। आर्थिक लाभ ही इसका मुख्य उद्देश्य है। इसके लिए पूँजीपतियों द्वारा फैलाया गया एक अन्य भ्रम है 'विकास'। विकास के नाम पर जो भी कार्यवाईयाँ यहाँ होती हैं उसमें आर्थिक दृष्टि ही प्रमुख रही है। विकास का जो मानवीय पक्ष है उसे सदा नज़रअंदाज़ किया जाता रहा। इस यथार्थ को मिथिलेश्वर ने 'बन्द रास्तों के बीच' कहानी में व्यक्त किया है। इसमें जगेसर नामक एक पात्र है। वह

---

1. सच्चिदानंद सिंहा भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, 2003 पृ. 13

एक बनिहार है। जब गाँव की सड़क पक्की बन रही थी तो वह खुश होता है। वह सोचता है कि सड़क के किनारेवाली उसकी मडई को दूकान में तब्दील किया जा सकता है। जैसे-जैसे सड़क बन रही थी, उसी हिसाब से दूकान भी बन रही थी। उसकेलिए यह दूकान मालिकों के शोषण से बचने का आखिरी रास्ता था। लेकिन जब सड़क बनकर तैयार हुई तो सड़क के दोनों किनारे के दस फीट तक की ज़मीन को सरकारी ज़मीन घोषित कर दिया गया और दूकान को गिरा दिया गया। वह हमेशा-हमेशा के लिए खाट पकड़ता है। यहाँ विकास से तात्पर्य आमआदमी के विकास से नहीं, बल्कि समाज के चन्द लोगों की सुविधाओं के विकास से है। विकास के इस रूप के संबंध में अभयकुमार दुबे ने लिखा है "यह (विकास) एक ऐसा निर्वैयक्तिक विचार है जो ठोस मानवीय अस्तित्व के बजाय अमूर्त और संकलित किस्म की श्रेणियों ओर मात्राओं में दिलचस्पी रखता है। वह राजनीतिक प्रक्रियाओं की कोई परवाह नहीं करता। नागरिक समुदायों, राज्यों और राष्ट्रों का निर्माण करके आगे बढ़ने में इसकी रुची नहीं है। यह बुनियादी तौर पर अराजनीतिक है।"[1] सवाल यही है कि विकास का मानवीय पक्ष यहाँ क्यों उपेक्षित है? स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम दिनों से लेकर आज तक राजनीति से अपने को जोड़कर रखनेवाले सामाजिक सरोकारविहीन उच्च मध्यवर्ग एवं पूँजीपतियों की विकास संबंधी दृष्टि इसके लिए जिम्मेदार हैं। इन लोगों ने विकास की एक ही संभव दिशा को स्वीकार किया है। वह है पश्चिमी औद्योगिकीकरण।

1. अभयकुमार दुबे भारत का भूमंडलीकरण, 2003 पृ. 86-87

किसी भी व्यवस्था की उपर्युक्तता सिर्फ इस दृष्टि से आँकी जाती है कि वह व्यवस्था औद्योगिक विकास के लिए उपर्युक्त है या नहीं। फलतः विकास की वेदी पर कई बेसहारों की बलि चढ़ाई जाती है। आमआदमी की जीवन पद्धति के साथ संगति न बैठा पानेवाली इन विकास-नीतियों की वजह से कई लोग विस्थापित हुए हैं, कई लोग अपनी आजीविका से वंचित हुए हैं तो कई लोगों ने आत्महत्या का शरण लिया है।

इस संदर्भ में हमारे देश के सत्ताधारी एवं अभिजात वर्गों के द्वारा जनविरोधी उच्च साम्राज्यवादी शक्तियों से स्थापित किये गये संबंध पर भी विचार करना उचित है। क्योंकि यह संबंध कई अंतर्विरोधों को जन्म देता है। इस संबंध के कारण सत्ताधारी जनता के प्रति अपने दायित्व भूल जाते हैं। वे सिर्फ पूँजीवाद के बिचौलिए बन जाते हैं। फलतः वे अपनी राष्ट्रीय संप्रभुता एवं गौरव को उच्च साम्राज्यवादी शक्तियों के आगे गिरवी रखने के लिए तैयार हो जाते हैं। जनतंत्र की इस दुस्थिति का चित्रण अब्दुल्ल बिस्मिल्लाह की 'माटा-मिरला की कहानी' में किया है। इसमें एक राजकुमारी अपनी खोयी हुई नौ करोड के हीरे की माला प्राप्त करने के लिए माटा और मिरला को आधा राजपाट देने के लिए तैयार हो जाती है। लेकिन माटा की पत्नी पूरे राजपाट पर कब्जा ज़माना चाहती है। इसलिए वह राजकुमारी को इस शर्त पर हार देने के लिए तैयार होती है कि उस साल दीवाली के रोज़ सिर्फ उनके घर में दिया जलेगी और किसी के घर में नहीं। अपने हार पाने के लिए राजकुमारी लोगों की खुशियों पर पाबंदी लगाने के लिए तैयार होती है। फलतः दीवाली के दिन लक्ष्मी देवी दिया देखकर उस घर में आती है। माटा की पत्नी उन्हें इस शर्त पर अंदर प्रवेश

करने देती है कि वे हमेशा उनके साथ रहेंगी। इसप्रकार माटा और मिरला लक्ष्मी देवी के ज़रिए पूरे राजपाट पर कब्जा जमा देते हैं, "पूरा राज्य एक बहुत बडे बाज़ार में बदल गया और वहाँ की हर चीज़ पर माटा-मिरला का नाम लिखा है। जगह-जगह मिरला के मंदिर और घर-घर में इस्तेमाल होनेवाली ज्यादातर ज़रूरी चीज़ें माटा-छाप हैं। उन्होंने यह भी देखा कि वे दोनों स्त्रियाँ (माटा और मिरला की पत्नियाँ) अलग-अलग भव्य भवनों में बैठी हैं और हज़ारों नौकर-चाकर सिर झुकाए उनके सामने खड़े हैं। भीतर माटा और मिरला देश-दुनिया के हिसाब-किताब में व्यस्त हैं।"[1] अतः यहाँ सत्ताधारी अपने स्वार्थ के लिए पूरे देश की जनता की खुशियों को हमेशा-हमेशा के लिए गिरवी रखने के लिए तैयार हो जाते हैं। सत्ताधारियों का यह जनविरोधी रवैया उनके द्वारा स्वीकृत हर नीतियों में विद्यमान है। "यह एक विचित्र स्थिति है कि हमारा देश ऐसे ऐतिहासिक क्षण में आधुनिकीकरण और विकास के उसी रास्ते, उसी देश को अपना रहा है, जिसे अपने तजुर्बे के आधार पर कम-से-कम सिद्धांत रूप में पश्चिम के विवेकशील और दूरदर्शी चिंतक पश्चिम के लिए विनाशकारी और विघटनकारी मानकर अन्य क्षेत्रों में उसके विस्तार और प्रसार को मानवता के लिए अहितकारी घोषित करने के लिए विवश हुए हैं।"[2] सत्ताधारियों की राजनीतिक स्वायत्तता और राष्ट्रीय एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता से भ्रष्ट यह अवस्था यहाँ के पाश्चात्य एजेंसियों के वर्चस्व को मज़बूत करता है।

---

1. अब्दुल्ल बिस्मिल्लाह - रफ़ रफ़ मेल (सं), माटा-मिरला की कहानी, 2000 - पृ. 135
2. पूरन चन्द्र जोशी स्वप्न और यथार्थ आज़ादी की आधी सदी, 2000 पृ. 66

नवउपनिवेशवादी शक्तियों एवं सत्ताकेन्द्रों द्वारा संचालित विकास नीति का एक अन्य परिणाम है निजीकरण। निजीकृत कंपनियाँ यहाँ के मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों को लूटती हैं। इन कंपनियों को सत्ताकेंद्रों का ठोस समर्थन प्राप्त है। मानव श्रम और मस्तिष्क का शोषण एक आम बात बन गयी है। स्थायी कर्मचारियों को छंटनी के द्वारा निकाल दिया जाता है और उसके बदले अस्थायी कर्मचारियों को कम वेतन में काम करने के लिए मज़बूर कराते हैं। जितेंद्र भाटिया की 'ग्लोबलाइसेशन' कहानी का नारायण सदाशिव मोरे हर सुबह अपने परिवार के साथ भूखे पेट काम की तलाश में शहर आ जाता है। किसी भी फैक्टरी के सामने खड़े अस्थायी कर्मचारियों की भीड़ में काम के लिए ठेकेदार की कृपा का इंतज़ार करता है। पिछले दो दिनों से नारायण के परिवार में से सिर्फ उसकी औरत को ही काम मिला था। नारायण परेशान है क्योंकि बहुत लोग काम की तलाश में खड़े हैं। "भोंगा बजने के सात आठ मिनट बाद गेट के भीतर से शिरके सेठ सुस्त रफ्तार से बाहर आता दिखाई दिया, जिसकी ऐवज भीड़ में एक सनसनाहट - सी दौड़ गई। बाहर निकलकर शिरके सेठ ने एक बार कनखियों से भीड़ की ओर देखा, फिर नज़र घुमाकर गंभीर स्वर में ऐलान किया "चार माणस।" "अहसान मियां, चाला लवकर.... डूबते दिल के साथ नारायण ने शिरके सेठ की आवाज़ सुनी....

....नंदू पोमंडकर।....

साला पनौती....

....सुरेश पाटिल।....

अब कोई चानस नई, नारायण ने सोचा, और फिर आखिरी बदहवासी में अचानक बिजली की तेज़ी से अपनी दो उंगलियाँ हवा में उठा दीं। दो उंगलियों का मतलब था दुगुनी, यानी बीस रुपये की कटौती।"[1] मज़बूरी से नारायण चालीस में से बीस का महंगा सौदा करके काम पर जाता है। यह मज़दूर वर्ग अपने आपको, अपने श्रम शक्ति को हर रोज़ इन ठेकेदारों को बेचता है। हर रोज़ की मज़ूरी जीनेवाला मज़दूर वर्ग न अपनी काबिलियत के अनुसार ऊपर उठ सकता है, न कोई सपना देख सकता है। सिर्फ जीने के लक्ष्य से जीनेवाला यह वर्ग कभी संगठित भी नहीं हो सकता है क्योंकि पेट की आग के समक्ष हर अस्थायी मज़दूर दूसरे अस्थायी मज़दूर का प्रतिद्वन्द्वि है। अतः स्थिति में परिवर्तन की आशा की कोई गुंजाइश नहीं है। लेबर मार्केट में बढ़ती श्रमिकों की वृद्धि ने उनकी सुरक्षा तक को खतरे में डाल दिया है। मज़दूरों पर दुर्घटना को कंपनी अपने को जिम्मेदार नहीं मानते। स्थायी कर्मचारियों की तरह इनके काम करने का कोई रेकोड भी नहीं है। इससे कोई भी दुर्घटना होने पर कंपनी आसानी से इससे अपना पिंड छुड़ा सकता है। 'ग्लोबलाइज़ेशन' कहानी में एक पतरे को सरकाते समय नारायण का घुटना पूरी तरह छिल जाता है और खून बहने लगता है। फोरमैन के कमरे में दवाईयों का बक्सा रखा हुआ है। लेकिन वहाँ जाकर दवाई माँगने का मतलब है एक नई मुसीबत में खामख्वाह सिर देना। एक चोट लगे आदमी को अगले दिन काम मिलना बहुत मुश्किल है। अपने पेट के वास्ते असुरक्षित माहौल में

---

1. जितेंद्र भाटिया सिद्धार्थ का लौटना (सं), ग्लोबलाइजेशन, 2000 पृ. 13

भी छुप रहना उसकी मज़बूरी है। सारे श्रमिक कानून इनकी रक्षा की बात उठाते तक नहीं। "भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में संगठित क्षेत्र के मज़दूरों की संख्या घटी है और असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की संख्या बढी है। फिर भी हमारी सरकार श्रमिकों को दी जानेवाली सुविधाओं के लिए संगठित क्षेत्र के मज़दूरों पर ही विचार करती है। असंगठित क्षेत्र के कामगारों के विकास के लिए इसके पास कोई भी ठोस कार्यक्रम नहीं है।"[1] भूमंडलीकरण के नाम पर परिनिष्ठित विकास-योजनाएँ एक बडे तबके को गुलामों की जिन्दगी जीने के लिए मज़बूर कर रही हैं।

आजीविका के क्षेत्र में आयी असुरक्षित अवस्था व्यापक दुस्थितियों को जन्म देती है। इससे मनुष्य की सारी सोच खाने-पीने के साधन जुटाने एवं कहीं रहने तक सीमित हो जाता है। ऐसे में मानवीय संवेदनाओं का खात्मा प्रत्येक की मज़बूरी बन जाता है। जितेंद्र भाटिया की कहानी 'सांप, सीढ़ी और सांप' में जयंत अग्रवाल और विनी पति-पत्नी हैं। दोनों की नौकरी अभी पक्की नहीं हुई है। कम वेतन की यह नौकरी उन्हें किराये के एक कमरे से ज्यादा और कुछ न दे सकती थी। एक कमरा भी उन्हें इस शर्त पर मिला कि वे हरगिज दो से तीन नहीं होंगे। छह लंबे सालों तक इन लोगों ने अपने जीवन में कुछ बेहतर घटित होने की उम्मीद में जी लिया। अकेलेपन एवं असुरक्षित अवस्था से घबराकर विनी माँ बनने का निर्णय करती है। अस्थायी कर्मचारियों को 'मैटरनिटी लीव' न मिलने के कारण वह नौकरी तक छोड़ देती है। पर मकान मालिक मिसेज़ मेंडोंसा

---

1. अभयकुमार दुबे भारत का भूमण्डलीकरण, 2003 पृ. 309

से की गयी पेइंग गेस्ट अधिनियम के अनुसार वह माँ नहीं बन सकती थी। अंत में कई मानसिक कश्मकश के बाद दोनों बच्चे को गिराने का फैसला करते हैं। यहाँ नौकरी की अनिश्चितता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की असुरक्षा बनकर प्रकट होती है। अपनी सुरक्षा के लिए हर कोमलता की खातमा करने के लिए व्यक्ति विवश हो जाता है। "विनी का शिथिल चेहरा अब एक अजीब-सी क्रूरता से सख्त हो गया था, जैसे वह अपने भीतर की सारी कोमलता का गला दबोच देने के लिए नसें खींच रही हो। मुझे मालूम था कि कल सुबह फास्ट लोकल में चर्चगेट आते हुए मैं फिर से खलनायकों की कतार अपने सामने खड़ी कर लूँगा और खयाली गोलियों से उन्हें शूट करता जाऊंगा। खोसला, मेजर उल्लू, मिसेज मेंडोंसा.... लेकिन वे मरेंगे नहीं, सिर्फ खिलखिलाएंगे और मेरी ओर अंगूठा दिखाकर दोहरे-तिहरे होते जाएंगे...."[1] नवउपनिवेशवादी शक्तियों एवं सत्ताकेंद्रों द्वारा 'विकास' के दर का लाख ग्राफ क्यों न प्रस्तुत करें, मानवीय संवेदना एवं अस्तित्व को नष्ट करानेवाली स्थिति को विकास नहीं कह सकते। ऐसा विकास 'साँप और सीढ़ी' के खेल की तरह है। जितने ऊपर उठेंगे, उतने ही नीचे गिरेंगे। अधिकार का यह अप्रत्यक्ष दबाव जीवन के हर स्वस्थ माहौल को सांप की तरह निगल लेता है। लेकिन अधिकारियों की इस अमानवीयता को आज 'सहजता' का लेबल प्राप्त है। व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं अस्तित्व तक को नष्ट करने की स्थिति को सहज मानने की ओर जितेंद्र भाटिया ने अपनी 'सांप, सीढ़ी और सांप' कहानी में इसप्रकार

---

1. जितेंद्र भाटिया - सिद्धार्थ का लौटना (सं), साँप, सीढी और सांप, 2000 - पृ. 31-32

संकेत किया है - "जय, कैन आई सी यू सम टाइम? खोसला हर बार सामने पड़ जाने पर मुझसे कहा करता था, पर मैं अनुभवी खिलाडी की तरह बेशर्मी से गोल कर जाता था। पहली तो यह, साले, कि मेरा नाम जय नहीं, मिस्टर जयंत अग्रवाल है, मैं मन-ही-मन बुदबुदाता, लेकिन इस बारे में ज्यादा कुछ कर सकना मुमकिन नहीं था। खोसला अमेरिका से आया था और चपरासी से लेकर जी.एम. तक को पहले नाम से बुलाने की उसे आदत थी। 'अमेरिकन इनफॉर्मेलिटी, (अमेरिकी बेतकल्लुफी) यू सी...."[1] यहाँ किसी के नाम को उसकी मर्जी के बजाय मनमाने ढंग से बदलने के पीछे उस व्यक्ति के व्यक्तित्व को नकारने की भावना निहित है। इस असंगति को समाज के भद्र कहे जानेवाले वर्ग ने एक जीवन पद्धति के रूप में स्वीकार कर लिया है। अभिजात वर्गो का यह रवैया आमआदमी के जीवन को और भी त्रासद बना देता है।

नवउपनिवेशवादी ताकतों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों की लूट भी एक ज्वलंत यथार्थ है। आज विदेशी कंपनियाँ हमारी नदियाँ, मिट्टी और आसमान तक को कई प्रकार की विकास योजनाओं के बहाने हम से छीन रही हैं। प्राकृतिक संसाधनों की लूट ने कई पर्यावरण संबंधी समस्याओं को जन्म दिया है। पर्यावरण की समस्याएँ वास्तव में पर्यावरण की समस्याएँ नहीं, बल्कि मनुष्य की समस्याएँ हैं। उसका संबंध मनुष्य के अस्तित्व से है। मानवीय अस्तित्व और प्राकृतिक संसाधनों के बीच के संबंध को समकालीन कहानीकार संजीव ने अपनी 'प्रेतमुक्ति' कहानी में

---

1. जितेंद्र भाटिया - सिद्धार्थ का लौटना (सं), साँप, सीढी और सांप, 2000 पृ. 23

व्यक्त किया है। इसमें एक गाँव की मुखिया वहाँ की नदी को बाँध बनाकर रोक देता है। फलस्वरूप गाँव के सारे के सारे लोगों एवं वन के बाघों तक को पानी पीने के लिए मुखियाजी के रहम का मोहताज होना पड़ता है। प्राकृतिक संसाधनों पर किये गये कब्जे से मुखिया उस गाँव के सभी लोगों को अपना गुलाम बना देता है। अधिकार चेतना से जन्मी यह विकृत अवस्था मानवीय अस्तित्व को नष्ट करती है। 'प्रेतमुक्ति' कहानी के रस्तोगी साहब का कथन इस बात को स्पष्ट करती है - "सच पूछिए तो वो आइंस्टाइन ने क्या कहा था, हर चीज़ हर दूसरे से जुड़ी है। कोई भी समस्या एकांगी नहीं। इस पूरे इलाके की सूखी फसलें, सूखे इनसान, मरियल मवेशी और इनका दयनीय परिवेश सिर्फ इस वजह से है कि जिनके पास ताकत और पैसा है उन्होंने इसे व्यक्तिगत संपत्ति बना रखा है। नदी यहाँ बँध गयी है तो आगे पानी जायेगा कहाँ से? बाघ.... बाघ हुआ भी तो पानी पीने झक मार कर उसे यहीं आना पडेगा। देखिए उस तरफ, लिलीपुट राज्य के छोटे-छोटे मवेशी पानी पी रहे हैं। बाँध से औरतें घड़ा भर-भरकर ले जा रही हैं।"[1] मानवीय अस्तित्व को खतरे में डालनेवाला मुखिया कभी भी अपनी तानाशाही को खुलकर स्वीकार नहीं करता है। वह हमेशा कहता है कि पानी को बचाये रखने के लिए ही उसने बाँध बनाया है। यहाँ एक अमानवीय हरकत को 'प्रगतिशील' या 'उदार' ठहरा दिया गया है। हमारी विकास योजनाओं का अमानवीय पक्ष भी इससे भिन्न नहीं है। देश के विभिन्न भागों में विशेषकर आदिवासियों की

---

1. संजीव - आप यहाँ हैं (सं), प्रेतमुक्ति, 1984 पृ. 118

तरफ से उठ रहे विद्रोह के स्वर विकास पद्धति के अंतर्विरोध को प्रतिफलित करती हैं। "फिलहाल बडे बाँधों के निर्माण, खनिज निकालने, औद्योगिक प्रतिष्ठान बनाने या प्रूफ रेंज बनाने के क्रम में बड़ी संख्या में लोगों का विस्थापन हो रहा है। चूँकि वन प्रदेश और पर्वतीय प्रदेश में ही आदिवासियों का निवास स्थान होता है, इन विस्थानों के शिकार प्रायः वे ही होते हैं। चूँकि वे समाज की तथाकथित मुख्यधारा से बाहर पड़ते हैं। उनकी बातें अक्सर सुनी नहीं जातीं। वे कूड़े के ढेर की तरह हटाकर एक जगह से दूसरी जगह डाल दिए जाते हैं।"[1] इससे स्पष्ट है कि पर्यावरण केंद्रित विकास योजनाएँ मनुष्य को अपने परिवेश, अपनी विशिष्ट जीवन-शैली और सांस्कृतिक पहचान के साथ जीने के अधिकार को नष्ट करा देती हैं। फिर भी इन योजनाओं की अमानवीयता को सिर्फ पर्यावरण या प्रदूषण का मुद्दा बनाकर सरलीकृत किया जाता है। सुन्दरलाल बहुगुणा ने इस संबंध में अपने ग्रंथ 'धरती की पुकार' में लिखा है "पढे-लिखे शहरी लोग जो पर्यावरण के नाम पर बडे-बडे सम्मेलन और गोष्ठियाँ करते हैं, वे इन परियोजनाओं के नाम पर किए जानेवाले मानव अस्तित्व के प्रति जघन्य अपराध को पर्यावरण बनाम विकास की बहस के बजाय जिंदा रहने के अधिकार बनाम विकास को बहस का असली मुद्दा बनाना चाहिए। इसी परिप्रेक्ष्य में इन परियोजनाओं को न्यायालय में चुनौती दी जानी चाहिए।"[2] लेकिन त्रासदी यह है कि जिन परियोजनाओं को अभिजात्य वर्ग देश के विकास के लिए अनिवार्य मानता है, उनको चुनौती देनेवालों

1. सच्चिदानंद सिंहा भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, 2003 पृ. 94-95
2. सुन्दरलाल बहुगुणा धरती की पुकार, 2007 पृ 32

को देशद्रोही, विदेशी एजेंट, विकास के दुश्मन आदि ठहरा दिया जाता है। सत्ताधारी वर्ग आम लोगों के प्रति इतना संवेदनशून्य हो गया है कि वह वन्य पशुओं की चिंता तो दिखाता है पर वनवासियों के जीवन की चिंता नहीं दिखाती। बाघ तथा अन्य पशुओं के लिए देश में जगह-जगह अभयारण्य बनाये जा रहे हैं। कारण बतलाया जाता है कि इन पशुओं का अस्तित्व खतरे में है। 'प्रेतमुक्ति' कहानी में सत्ता की इस संवेदनशून्यता के संबंध में कहा गया है कि "समाज, परिवार, वंश, भ्रूण-ऊपर से नीचे तक क्षरण की एक जैसी प्रक्रिया। एक पूरी जाति गायब हो रही थी। सरकार की चिंता किस दुर्लभ नस्ल के संरक्षण के लिए है?"[1] अधिकारी वर्ग इस दुर्लभ नस्ल की रक्षा के लिए इसलिए तैयार होता है कि इन पशुओं का अभयारण्य विदेशी पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र है। विकास को सिर्फ आर्थिक लाभ की दृष्टि से देखने की इस प्रवृत्ति ने यहाँ के कमज़ोर बहुजनों को हाशिये की ओर धकेल दिया है।

नव-उपनिवेशवाद वास्तव में सर्वहारा-विरोधी अवस्था का जनक है। फिर भी इसके खिलाफ खुला प्रतिरोध आज भी मुखर नहीं है। सत्ता विपक्ष को चुप कराने के लिए कई मार्ग अपनाते आयी हैं। कभी वे निरंकुशतापूर्वक चुप कराते हैं तो कभी अपने अनुकूल बनाकर। एक छद्म लोकतांत्रिक व्यवस्था में बाहरी जबरदस्ती से रहित दूसरा उपाय अधिक स्वीकार किया जाता है। इस रणनीति के अनुसार विरोधी आवाज़ों को खरीद कर अपना अनुकूल बना दिया जाता है। होशियार लोगों को

1. संजीव आप यहाँ है (सं), प्रेतमुक्ति, 1984 पृ. 139

चुन-चुन कर खरीदने के इस तंत्र का चित्रण काशीनाथ सिंह ने अपनी 'सदी का सबसे बड़ा आदमी' कहानी में किया है। इसमें मुख्य पात्र शौक साहब जो एक जनविरोधी सत्ता का प्रतीक है वह एक रईस है। वह अपनी कोठी में तीसरी अटारी की खिड़की के पास बैठकर पान खाते हैं और होशियार लोगों पर पान की पीक थूकते थे। उन्हें ऐसे होशियार आदमी की तलाश थी जो कपड़ा खराब होते ही गालियाँ दें, आसपास के लोगों को इकट्ठा करें और फिर दया की भीख माँगते हुए कहें कि अब वे क्या पहनेंगे? तब शौक साहब के दो नौकर आकर उसे चंदन के साबुन से नहलाकर, नया कुरता धोती पहनाकर, अच्छा भोजन खिलाकर अंत में हाथी या घोडे में बिठाकर गली की नुक्कड़ तक विदा कर देता है। यहाँ जनविरोधी सत्ता ने अपनी 'लोकलुभावन' नीति से व्यवस्था विरोधी आवाज़ को दबा दिया है। आज सत्ता कई फॉऊटेशनों एवं फेलोशिपों के माध्यम से या अर्थ का लोभ देकर विरोधी आवाज़ को खरीदते हैं। सुन्दरलाल बहुगुणा के अनुसार "हर व्यवस्था के पास जन-आंदोलन को दबाने के लिए भय और लालच के दो शस्त्र होते हैं। गाँधी ने भय के मुकाबले लोगों को निर्भय बनाने और लालच के मुकाबले निःस्वार्थ बनाने के वैकल्पिक शस्त्र दिये हैं। टिहरी बाँध-विरोधी आंदोलन कुछ हद तक लोगों को भयमुक्त तो कर सका है, लेकिन लालच से मुक्त नहीं कर सका। यद्यपि युवकों की, जिन्हें एक वर्ष पूर्व रोजगार का लालच देकर आंदोलन का विरोधी बनाया गया था, अब आँखें खुल गई हैं क्योंकि उन्हें नौकरियाँ देने का वायदा पूरा करने का आंदोलन करने पर नौकरी के

बदले डंडे मिले हैं।"[1] अतः प्रतिरोधी शक्तियाँ जब समझौते का रास्ता अपनाते हैं तो नव उपनिवेशी ताकतों की जडें और मज़बूत हो जाती हैं। तब शोषणरहित समाज, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय जैसी बातें भ्रम-जाल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहेंगी।

अधिकार एवं उससे जन्मी अधीनस्थ स्थितियों के कई आयामों को समकालीन कहानीकारों ने अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। इससे अधिकार की निरंकुशता से संत्रस्त आमआदमी के स्वर को अभिव्यक्ति मिली है। ध्वंसित मानवीयता के स्वर को फिर से बुलंद करने की जबरदस्त कोशिश इन कहानियों में हुई है। कहानीकार कमलेश्वर के अनुसार - "मैं 'मनुष्य के लिए राजनीति' में विश्वास करता हूँ। 'राजनीति के लिए मनुष्य' में नहीं। यह दोनों स्थितियाँ उतनी विरोधी नहीं है जितनी कि आज के समय-संदर्भ में बन गई हैं। और जो स्थिति आज है वही यथार्थ है। आदर्शों के सीमांत पर तो अन्ततः सब ठीक साबित हो सकता है। पर आदर्शों तक पहुँचने की राह में मनुष्य को कितना छला गया है, और कितना छला जाता है, इसे नज़रअंदाज कैसे किया जा सकता है? यातनाओं के जंगल से गुज़रते मनुष्य की इस महायात्रा का जो सहयात्री है, वही आज का लेखक है। सह और समांतर जीनेवाला, सामान्य आदमी के साथ।"[2] अतः समकालीन कहानी की प्रतिबद्धता का आधार कोई राजनीतिक दल नहीं, बल्कि संत्रस्त आमआदमी है।

---

1. सुन्दरलाल बहुगुणा धरती की पुकार, 2007 पृ. 20
2. कमलेश्वर बयान तथा अन्य कहानियाँ भूमिका, 1972 पृ. 6

यह एक सच है कि समकालीन कहानी आमआदमी के स्वर को अभिव्यक्ति देती है। लेकिन कहानीकार की स्थिति आमआदमी की त्रासद स्थिति से भिन्न नहीं है। इसलिए कहानी कहीं-कहीं दूसरों की अभिव्यक्ति से बढ़कर स्वयं लेखक की 'असहमति' का माध्यम भी है। प्रसिद्ध कहानीकार संजीव के अनुसार - "मैं जिस ज़मीन पर उगा और मेरा जो आकाश है, सब पर दबाव है, कुछ ज्यादा ही दबाव। दबाव कुछ दीन के, कुछ दुनिया के जिन्हें भेद कर मेरा जिज्ञासु और बेचैन मन बाहर आना चाहता था। लेखन मेरे लिए खुद को अतिक्रमित करने और अन्वेषित करने का ज़रिया है   अंदर भी बाहर भी।"[1] अतः उनके लिए कहानी व्यवस्था के प्रति अपनी असहमति दर्ज करने का ज़रिया है।

समकालीन कहानी में चित्रित राजनीतिक विसंगतियों का संबंध जीवन की प्रत्येक गतिविधियों से है। अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए संघर्ष करनेवाले पात्र, उसके संघर्ष को दबानेवाला वर्चस्वी वर्ग आदि समकालीन कहानी की राजनीति केंद्रित कहानियों के मुख्य विषय हैं। अतः राजनीति को आधार बनाकर लिखी गयी इन कहानियों को हम मात्र राजनीतिक कहकर छोड़ नहीं सकते। काशीनाथ सिंह के अनुसार "मैं अपनी कहानियों के लिए नहीं चाहता कि उन्हें राजनैतिक कहानियाँ कहा जाए। यह एक गलतफहमी या भ्रम पैदा करनेवाला मुहावरा होगा। इतना ज़रूर है कि मेरी कहानियों की जिंदगी या कहानियों के जो पात्र हैं वे राजनीति, यानी जो सातवें दशक के परवर्ती दिनों की अवसरवादी भ्रष्ट

---

1. संजीव   आरोहण, (भूमिका), 2006   पृ. 9-10

राजनीति है, के सताए हुए पात्र हैं। अपने जीवन के लिए और अपने अस्तित्व के लिए कहीं न कहीं सही राजनीति की तलाश में है। आप इन पात्रों को राजनीतिक कह सकते हैं, बल्कि कहें, लेकिन कहानियों को राजनीतिक कहना मुझे पसंद नहीं।"[1] अतः कहानीकारों ने जिंदगी की सामान्य सी प्रतीत होने वाली घटनाओं में निहित अंतर्विरोधों को पकड़ने का प्रयास किया है। समकालीन कहानीकारों ने इन अंतर्विरोधों का समाधान किसी राजनीतिक नारेबाजी में नहीं खोजा है बल्कि आमआदमी के संघर्ष को उसकी सक्रियता में खोजने का प्रयास किया है।

1. काशीनाथ सिंह आलोचना भी रचना है, 1996 पृ. 157

अध्याय - 4

समकालीन कहानी - सांस्कृतिक दृष्टि का समाजशास्त्र

संस्कृति और समाजशास्त्र

स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की पहली शर्त है संस्कृति। क्योंकि संस्कृति मनुष्य केंद्रित चेतना है। इसलिए संस्कृति जब विकृत होती है तब सामाजिक व्यवस्था में से मानवीयता का क्षरण होने लगता है। वह वर्ण, वर्ग एवं लिंग केंद्रित बन जाती है। तब अधिकार से जन्मे मूल्य सामाज को संचालित करने लगते हैं। यह सामाजिक व्यवस्था को विकृत बना देते हैं। संस्कृति के समाजशस्त्र का तात्पर्य जीवन यथार्थ को पारदर्शी ढंग से पहचानना है। कई प्रकार की रूढ़ एवं मूढ़ स्थितियों से समाज का यथार्थ वास्तविक यथार्थ से अलग ही रहता है। उदाहरण के रूप में आर्थिक भिन्नता और उसके माध्यम से उपजी हुई उच्चता एवं निम्नता का पाखंड। यह पाखंड समाज में विकसित होता ही रहता है। अतः जो विपन्न होता है उसका कोई स्थान समाज में नहीं रहता है जब कि समृद्ध व्यक्ति सदैव महत्वपूर्ण घोषित होता है।

प्रचलित विचारों, विश्वासों एवं मान्यताओं का संस्कृति में स्थान है। लकिन यदि वे विचार मनुष्योन्मुख नहीं है तो संस्कृति के भीतर ही उसके लिए प्रतिरोध का होना ज़रूरी है। उसी को हम संस्कृति कह सकते हैं। जब संस्कृति रूढ़ विचारों से ऊपर उठती है तो वह संस्कृति की अवरुद्धता के प्रतिरोध का उदाहरण है। अपनी जीवनी शक्ति से उठ पाने

की क्षमता न रखने वाली संस्कृति वस्तुतः संस्कृति नहीं है। आस्थाओं के बारे में यही कहा जा सकता है। आस्थाएँ सदैव मानवीय होती हैं। एक स्वस्थ और पारदर्शी संस्कृति में न कि वह अल्पसंख्यकों में विकसित दृष्टि है न वह बहुसंख्यकों के विरोध में विकसित दृष्टि है। संस्कृति एक स्वस्थ दृष्टि संपन्नता है जो मनुष्य को स्वस्थ परंपरा से जोड़ती है और अनैतिक एवं अमानवीय परंपराओं से अलग करती है। संस्कृति के समाजशास्त्रीय अध्ययन से हमें पता चलता है कि संस्कृति में स्वतंत्रता का कितना मूल्य है। हमारी संस्कृति में अल्पसंख्यकों के लिए प्राप्त सुविधा का नाम है स्वतंत्रता। इसलिए सुविधाभोगी समाज में वास्तविक अस्वतंत्रता कोई सवालिया चिह्न उपस्थित नहीं करती।

मानवीय अधिकारों को नकारनेवाली अपसंस्कृति है जाति व्यवस्था। यह स्वतंत्रता, समता और विश्वबंधुत्व को न माननेवाली व्यवस्था है। इसका आधार धार्मिक सत्ता पर टिका हुआ है। ब्राह्मणवाद धर्म की झूठी अवधारणाओं को गढ़कर स्वयं को 'श्रेष्ठ' एवं 'शुद्ध' घोषित कर देता है। इस श्रेष्ठता के दंभ पर वह गैरद्विज को 'अशुद्ध' और 'निम्न' करार देता है और उससे अस्वच्छ एवं अलाभकारी कार्य करवाता है। ब्राह्मणवाद कभी भी गैरद्विज को 'निम्नता और अशुद्धता' के दायरे से बचने नहीं देता। अगर कोई दलित ब्राह्मणवाद द्वारा उसके लिए निर्धारित 'कर्म' से बाहर निकलता है तो ब्राह्मणवाद उसे 'रक्तशुद्धता' के नाम पर दबा देता है। ब्राह्मणवाद हर हाल में अपने लिए सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता है। इस बिंदु पर आकर ब्राह्मणवाद पूँजीवाद से आ जुड़ता है। तब ब्राह्मणवाद

पूँजी के लिए अपने जातीय दंभ को छोड़कर पूँजीपतियों से गठजोड़ करने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसे में गैरद्विज की तरह सवर्ण पिछडे भी ब्राह्मणवाद का शिकार बन जाता है।

धार्मिक एवं आर्थिक सत्ता की तरह जातिव्यवस्था से जुड़ा एक अन्य सत्ता तंत्र है पुरुषसत्ता। पुरुषसत्ता स्त्री के यौनत्व पर कठोर नियंत्रण रखकर, सजातीय संबंधों को महत्व देकर जातिव्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करता है। पुरुषसत्ता के इस कठोर अनुशासन से दलित स्त्री की तरह सवर्ण स्त्री भी बच नहीं पाती। वह जातीय 'इज्जत' को बनाये रखनेवाली 'वस्तु' बन जाती है। कुलमिलाकर जातिव्यवस्था धार्मिक, आर्थिक एवं पुरुषसत्तात्मक तंत्र के ज़रिए मानवीय अधिकारों को दबाती है।

अपसंस्कृति का यह वर्चस्व समन्वयात्मक चेतना से युक्त समाज में संभव नहीं है। इसलिए अपसंस्कृति इस समन्वयात्मक चेतना को नष्ट कराकर वर्चस्व एवं अलगाव को बढ़ावा देती है। वर्चस्व एवं अलगाववाद को प्रश्रय देनेवाली एक अन्य अपसंस्कृति है सांप्रदायिकता। धर्म इसका मुख्य कार्यक्षेत्र है। सांप्रदायिकता के संदर्भ में सत्य से युक्त धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ धर्म के सत्य से रहित स्वत्व पक्ष को ही प्रमुखता दी जाती है। क्योंकि इसमें समन्वयात्मकता की क्षमता नहीं है। अतः सांप्रदायिकता के संदर्भ में धर्म को जितना महत्व दिया जाता है उतना ही उसका समन्वयात्मक पक्ष दुर्बल बन जाता है। धार्मिक स्वत्व को दी जानेवाली यह वरीयता गैर धार्मिक स्वत्व विलोपन का कारण बनती है। ऐसे ही एक गैर धार्मिक स्वत्व है देशीयता। आज देशीयता को भी धार्मिक

स्वत्व की दृष्टि से देखने का प्रयास ज़ारी है। किसी एक धार्मिक स्वत्व के द्वारा देशीयता पर किये जानेवाला कब्जा अन्य धर्मावलंबियों को असुरक्षित बना देता है। वे अपनी सुरक्षा की खातिर अपने ही धर्म के संकुचित दायरे में सिमट जाते हैं। धर्म की तरह भाषा भी सांप्रदायिकता के लिए उर्वर ज़मीन तैयार करती है। सांप्रदायिक शक्तियाँ भाषा के सहज विकास को रोककर उसे सांस्कृतिक अलगाव का माध्यम बनाती हैं। सांप्रदायिक शक्तियों द्वारा निर्मित यह सांस्कृतिक अलगाव फासीवाद को ताक़त प्रदान करता है। फासीवाद हमेशा इस अलगाव को बनाये रखने की कोशिश करता है। इसके लिए वह अप्रासंगिक मुद्दे को प्रासंगिक बनाकर प्रस्तुत करता है। फलतः वाजिब प्रासंगिक मुद्दे उपेक्षित रहते हैं। यह स्थिति सांप्रदायिकता को या फासीवाद को पनपने के लिए उचित माहौल तैयार करती है।

सांप्रदायिकता अलगाववाद पर केंद्रित शोषण व्यवस्था है। साथ ही साथ यह अधिकार चेतना का विकृत रूप भी है। सभ्यता के विकास का जब कोई सीधा प्रभाव जीवन पर पड़ता नहीं है तो इस तरह के अलगाववाद उठ खड़े होते हैं। विकास के आँकडों से विशेष कोई लाभ नहीं है। वास्तविक विकास का नक्शा तैयार करने का दायित्व एक समाज पर है।

संक्षेप में सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था की पहली माँग है संस्कृति। अधिकार केंद्रित संस्कृति सामाजिक व्यवस्था को विघटित करती है। यह मनुष्य के अस्तित्व को खतरे में डालती है। कहानी इस नष्टप्राय संस्कृति

को विस्तृत पटल में उतारती है। तब नष्टप्राय संस्कृति एक ज्वलंत समस्या का रूप ग्रहण करके पाठकों के जीवनबोध को प्रभावित करने लगती है।

संस्कृति चिंतन

संस्कृति की कई परिभाषायें हैं। समय-समय पर कई विद्वानों ने संस्कृति को परिभाषित करने का प्रयास किया है। आखिर संस्कृति क्या है? समाज में संस्कृति की क्या भूमिका है? संस्कृति स्वस्थ सामाजिक जीवन को निरूपित करके उसे निरंतरता प्रदान करती है। वह व्यक्ति एवं समाज में अनुकूलन की क्षमता पैदा करती है। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति के संबंध में लिखा है "मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। नाना प्रकारकी धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्‌वारा व्यक्त करते हैं। ....प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है।"[1] अतः संस्कृति सामाजिक विभिन्नताओं के मूल में स्थित मनुष्य से जुड़ी हुई श्रेष्ठ मान्यताओं का नाम है। संस्कृति का संबंध व्यापक जन समुदाय से है। उसके यथार्थों से है। नामवरसिंह के अनुसार - "सामंजस्य' और 'सन्तुलन' सौन्दर्यशास्त्र में शुद्ध मानसिक क्षेत्र तक

---

1. मुकुन्द द्विवेदी (सं) हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9, भारतीय संस्कृति की देन (निबंध), 1981 पृ. 199-200

सीमित थे, संस्कृति ने उन्हें अपनाकर सामाजिक बना लिया और इस प्रकार उनसे व्यक्ति के मन को संतुलित और समरस करने के साथ-साथ समाज में संघर्षशील विभिन्न वर्गों के बीच भी संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने का काम लिया जाने लगा।"[1] अतः संस्कृति का संबंध सामाजिक समरसता के पक्षों से है। संस्कृति की सामाजिक भूमिका के संबंध में अजय तिवारी ने लिखा है - "संस्कृति में जीवन और व्यवहार की सचाई का ज्ञान, अभाव की चेतना और आदर्श की कल्पना, तर्क-वितर्क और विश्वास, इन सभी पक्षों की अवस्थिति है। इसलिए वह केवल मनुष्य की स्थिति की द्योतक नहीं, बल्कि उसकी प्रेरणा और दिशा की नियामक भी है।"[2] इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं कि संस्कृति कोई निर्मित वस्तु नहीं है। उसका अस्तित्व ज्ञान, कल्पना, विश्वास आदि के रूप में है। अर्थात् संस्कृति एक अमूर्त चेतन प्रक्रिया या सूचनाओं का स्रोत है। इसलिए नृत्य, संगीत, भाषा, आचार, वेशभूषा आदि संस्कृति नहीं, बल्कि संस्कृति को संप्रेषित करनेवाली विधाएँ ही हैं। अतः संस्कृति प्रतीकधर्मी है। दूसरी बात यह है कि संस्कृति जिन व्यवहारों का निर्माण करती है उसका केंद्रबिंदु मनुष्य एवं उसका संपूर्ण विकास ही है। इसलिए संस्कृति स्वस्थ सामाजिक जीवन का अविभाज्य हिस्सा है।

समाज में संस्कृति का जन्म अकस्मात् नहीं होता। संस्कृति के निर्माण में ऐतिहासिक संदर्भों का भी योगदान है। इसलिए भिन्न-भिन्न

---

1. नन्दकिशोर नवल (सं) - नामवर संचयिता, आलोचा की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना, 2003 पृ. 81
2. अजय तिवारी - संस्कृति का स्व-भाव (लेख), कथन, अप्रैल-जून 2005, पृ. 74

प्रदेशों की संस्कृति में अपने ऐतिहासिक संदर्भों के अनुसार भिन्नता आती है। इसका यह अर्थ नहीं कि संस्कृति मात्र ऐतिहासिक तथ्यों का स्रोत है। संस्कृति ऐतिहासिक संदर्भों से निर्मित होते हुए भी उसमें ऐतिहासिक तथ्य आंशिक रूप से ही सम्मिलित है। मुख्यतः संस्कृति मानसिक पुनर्रचनाओं पर आधारित है। अर्थात् समय एवं संदर्भ के अनुसार संस्कृति के अर्थ बदल जाते हैं। लेकिन कभी-कभी सामाजिक सत्य और उससे जुडे ऐतिहासिक यथार्थ को विस्मृत करके संस्कृति को परिभाषित किया जाता है। परिणाम यह होता है कि संस्कृति के आत्यधिक निषेधात्मक रूप सामने आता है। यही अप-संस्कृति है। सच्चिदानंद सिंहा के अनुसार "अप-संस्कृति वही है जो संस्कृति के मूल उद्देश्य मानव प्रजाति की रक्षा और विकास के विपरीत उसे नष्ट करनेवाली होती है।"[1] जब संस्कृति अपने वास्तविक उद्देश्य को भूलकर स्वार्थ केंद्रित एवं वर्चस्व् केंद्रित बन जाती है तब उसका विचलन होता है। वर्चस्व केंद्रित संस्कृति लिंग, वर्ण, वर्ग आदि के आधार पर समाज को विभक्त करके मानवाधिकारों को कुचल देती है। विकृत सामाजिक व्यवस्था इसकी स्वाभाविक परिणति है। ऐसे ही एक अधिकार केंद्रित संस्कृति की देन है पुरुषसत्ता।

संस्कृति और पुरुषसत्ता

पुरुषसत्ता कई तरीकों से स्त्री को अपने अधीन में करने की कोशिश करती है। इसके लिए पुरुषसत्ता द्वारा इस्तेमाल की जानेवाली एक संस्था है परिवार। परिवार स्त्री स्वत्व के दमन का सबसे निष्ठुर

---

1 सच्चिदानंद सिंहा सांस्कृतिक विमर्श, 2001 पृ. 95

संस्था है। पुरुषसत्ता द्वारा स्त्री को अपने अधीन करने की शुरुआत परिवार से होती है। परिवार व्यवस्था में स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व कभी भी स्वीकार्य नहीं है। फलतः स्त्री को पुरुष निर्मित स्त्रीत्व की अवधारणा में ढलना है। स्त्री को इसका प्रशिक्षण बचपन से ही दिया जाता है। जैसे वह ज़ोर से हंस नहीं सकती, ज़ोर से बोल नहीं सकती, प्रतिवाद नहीं कर सकती आदि। उसे हमेशा चंचल, चपल, मासूम, पराश्रित और समर्पित बनी रहने की सलाह दी जाती है। तभी वह एक 'अच्छी स्त्री' बन पायेगी। सीमोन द बोउवर के अनुसार - "औरत को औरत होना सिखाया जाता है। औरत बनी रहने के लिए उसे अनुकूल किया जाता है।"[1] स्त्री का यह बंधन उससे हर वक्त उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं की कुर्बानी माँगता रहता है। स्त्रीत्व के इस बंधन के कई पहरेदार हैं जैसे पिता, भाई, घर की इज्ज़त, बिरादरी आदि। स्त्रीत्व का यह बंधन नमिता सिंह की 'औरत और औरत' कहानी का केंद्रबिंदु है। इसमें एक औरत अपने को चारदीवारी में बंध महसूस करती है। वह महसूस करती है कि उसके चारों ओर पहरेदार है। "बाप का हुक्म, भाई की देख-रेख, माँ के आँसू, रिश्ते-नाते, कुनबा-बिरादरी, इज्ज़त-आबरू..... सबसे विकट पहरेदार उसके पैरों की पाजेब थी, जो जंजीर की तरह उसके पैरों में पड़ी थी। उसकी माँ कहती थी कि पाजेब तो जन्म से ही पैरों में होती है। जब कहीं कोई औरत होती है तो उसके पैरों में हमेशा एक बेड़ी होती है।"[2] स्त्रीत्व के इस बंधन द्वारा स्त्री की नष्ट इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के प्रति कोई भी जवाबदेह नहीं। 'न

---

1. सीमोन द बोउवार - सेकन्ट सेक्स, प्रभा खेतान (अनु) - स्त्री उपेक्षिता, 2004 - पृ. 21
2. नमिता सिंह - कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ (सं), औरत और औरत, 2004, पृ. 119

पिता, न भाई, न बिरादरी बल्कि पुरुषसत्तात्मक समाज समर्पणशील, अस्तित्वहीन, आत्महीन, वाणिहीन स्त्रियों पर गर्व का अनुभव करता है।

परिवार में स्त्री की महत्ता उसके अस्तित्वहीन बने रहने में मात्र निर्भर नहीं है। यह तो किसी पुरुष के द्‌वारा उसके स्वीकारने या अस्वीकारने पर भी निर्भर है। किसी पुरुष के द्‌वारा अस्वीकृत रहने पर परिवारवाले उसे बोझ समझने लगते हैं। कामतानाथ की 'खलनायक' कहानी में सुनीता के पिता उसके विवाह का प्रस्ताव लेकर पड़ोस के राजू के यहाँ जाता है। भारी दहेज की शर्त रखने पर वह रिश्ता टूट जाता है। इस घटना के बाद सुनीता के पिता को सुनीता एक दिन के लिए भी बोझ लगने लगता है। पिता किसी बूढ़े से, जिनकी एक बेटी भी है, सुनीता की शादी करवाकर अपने को बोझ मुक्त कर देता है। परिवार में स्त्री को इस लक्ष्य से पाला जाता है कि वह भविष्य में किसी पुरुष के लिए क्रय की वस्तु बने। पिता के लिए पुत्री 'कन्यादान' के ज़रिये किसी को दान देने योग्य वस्तु है तो पति के लिए वह दान में मिली वस्तु। अतः कह सकते हैं कि स्त्री दमन के संदर्भ में परिवार संस्था की तरह उसकी रीढ बनी विवाह संस्था भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

पुरुषसत्ता द्‌वारा स्त्री के दमन का एक अन्य तरीका है उसकी दैहिक छवि का उभार। पुरुषसत्ता स्त्री की दैहिक छवि को ही स्त्री की पहचान बनाता है। यह छवि स्त्री के वास्तविक स्वत्व को नष्ट कराकर उसे एक लुभानेवाली वस्तु में तब्दील करा देती है। कभी स्त्री भी इस विकृत स्वत्व को स्वीकारती है। अखिलेश की 'हाकिम कथा' में संध्या

नामक एक पात्र है। वह अपने को अपनी बहन की तुलना में तुच्छ समझती है। यहीं नहीं वह अपनी बहन को प्रतियोगी की तरह मानती है। क्योंकि उसकी बहन अपर्णा उससे ज्यादा सुन्दर है। यहाँ संध्या अपने संपूर्ण व्यक्तित्व को देह तक सीमित करके देखती है। इसलिए वह अपने शरीर की असुन्दरता को व्यक्तित्व की असुन्दरता के रूप में महसूस करती है। अपनी बहन अपर्णा से ज्यादा सुन्दर बनना उसके जीवन का मकसद है। "वह दबे पाँव दूसरे कमरे में रखे आदमकद आईने के सामने आ खड़ी हुई। अपने को निहारा और कलात्मक अंगड़ाई ली, 'मुझमें अपर्णा से ज्यादा सेक्स अपील है।' शरीर के विभिन्न हिस्सों को ऐंठा-घुमाकर अपना जायज़ा लेने लगी, 'मुझे फिल्मों में काम मिल जाता, तो कितना फण्टास्टिक होता। हण्ड्रेड परसेण्ट फण्टास्टिक।' उसने धीमे से उत्तेजक़ धुनों वाला एक रिकार्ड चला दिया। कमरा बंद करके वह धुन पर थिरकने लगी। वह कल्पना करने लगी, सिनेमा हाल के पर्दे पर उसकी फिल्म चल रही है। उसने थिरकने को नाचने में बदल दिया।"[1] यहाँ स्त्री दैहिक छवि को ही सब कुछ मानकर इसमें अपने को तराशने की कोशिश करती है। फलतः वह अपने लुभानेवाले रूप को सबके सामने प्रस्तुत करने के लिए तैयार हो जाती है। इस संबंध में महादेवी वर्मा ने लिखा है

....पुरुष में नारी के प्रति जिज्ञासा जाग्रत रखने के लिए वह अपने सौंदर्य और अंग-सौष्ठव के रक्षार्थ असाध्य से असाध्य कार्य करने के लिए प्रस्तुत है। आज उसे अपने रूप, अपने शरीर और अपने आकर्षण

---

1. अखिलेश मुक्ति (सं), हाकिम कथा, 2005 पृ. 21-22

का जितना ध्यान है उसे देखते हुए कोई भी विचारशील, स्त्री को स्वतंत्र न कह सकेगा।"[1] स्त्री की उभरती दैहिक छवि उसके मन, संवेदना एवं आत्मा से जुड़े सवालों को नगण्य बना देती है। उसके व्यक्तित्व से जुडी अन्य संभावाएँ इससे कंठित हो जाती हैं। वह सिर्फ पुरुष के लिए निर्मित गूडिया बन जाती है। अर्थात् वह मात्र भोग की वस्तु बन जाती है।

पुरुषसत्ता स्त्री के व्यक्तित्व को देह तक सीमित रखती है। इस तरह सरलीकृत किये गये स्त्री व्यक्तित्व पर पुरुषसत्ता आसानी से अपना कब्जा जमा देती है। इसके लिए वह मात्र स्त्री देह पर केंद्रित नैतिक मान्यताओं को भी निर्मित करती है। इसके अतिक्रमण को घोर नैतिक अपराध माना जाता है। मृदुला गर्ग की 'कितनी कैदें' कहानी में मनोज अपनी पत्नी मीना से बहुत प्यार करता है। लेकिन मीना अपने विवाह पूर्व संबंध के अपराधबोध से ग्रस्त होने के कारण पति से खुलकर प्यार नहीं कर पाती। अंत में मीना पति से अपने विवाहपूर्व संबंध के बारे में खुलकर बताकर, अपराधबोध से मुक्त होकर, पति से प्यार करने के लिए तैयार हो जाती है। लेकिन मनोज इस विवाहपूर्व संबंध के बारे में जानने के बाद पत्नी से खुलकर प्यार नहीं कर पाता। क्योंकि वह समझता है कि उसकी पत्नी अब अपवित्र है। यहाँ स्त्री की पवित्रता को यौन शुचिता से जोड़कर देखा गया है।

पुरुषसत्ता नैतिकता को स्त्री देह पर क्यों केंद्रित करता है? इसका आधार पुरुष की उपयोगितावादी मनोवृत्ति ही है। जिस स्त्री को वह

---

1. महादेवी वर्मा श्रृंखला की कड़ियाँ, 2001 पृ. 45

पुनरुत्पादन के साधन के रूप में इस्तेमाल करना चाहता है उसे वह महिमामंडित करके नैतिकता के दायरे में बाँध देता है। उसके ज़रिए वह अपनी वंश-परंपरा को बनाया रखता है। स्त्री लैंगिकता को काबू में लाये बिना वह अपने वंश और संपत्ति को आगे नहीं बढ़ा सकता। पर जिस स्त्री को वह मात्र भोगने योग्य शरीर के रूप में इस्तेमाल करना चाहता है उसे वह कभी भी नैतिकता के दायरे में आने नहीं देता। उसे 'वेश्या', 'कुल्टा' आदि कहकर 'अनैतिकता' के चक्रव्यूह में कैद करके रखता है। संतोष रमेश की 'नीलीबिंदी' कहानी इस समय सत्य को रेखांकित करती है। इसमें रविकुमार एक संगीतज्ञ है। वह उर्मिला को अपना प्रेरणा स्रोत मानता है। रविकुमार उर्मिला के साथ शारीरिक संबंध भी रखता है, पर वह उर्मिला से शादी करने के लिए तैयार नहीं है। शादी तो वह अपनी हैसियत की बीना नामक युवती से करता है। इसके बाद उर्मिला, अपने संपूर्ण समर्पण के बाद भी, पूरे समाज की नज़र में अनैतिक तरीके से जीनेवाली बन जाती है। रवि के मन में अब भी उसके शरीर के प्रति आकर्षण बाकि है। बस वह उर्मिला को समाज के सामने मान्यता देने के लिए तैयार नहीं। लोगों के सामने वह उससे बचना चाहता है। उर्मिला सोचती है - ....तुम्हारे दायरे में क्या मेरी ज़रा भी जगह नहीं है? मैं...., जिसने पिछले दस वर्षों से तुम्हें सिर्फ दिया-ही-दिया है, लेकिन आज बदले में पाया क्या? ये अंधेरा कोना।"[1] अतः स्त्री का यह अंधेरा कोना पुरुष की उपयोगिता मनोवृत्ति की देन है। पत्नी हो या वेश्या हो स्त्री पुरुषसत्ता की नैतिकता के डंडे से बच नहीं सकती।

---

1. चित्रा मुद्गल (सं) - दूसरी औरत की कहानियाँ, संतोष रमेश - नीलीबिंदी, 1988, पृ. 29

पुरुषसत्ता के इस नैतिक मान्यता के चलते स्त्रियों की स्थिति सबसे असुरक्षित बन जाती है। पुरुषसत्ता स्त्री को जब चाहे इस नैतिकता के कटघरे में खडा करा सकती है। मृणाल पाण्डे की 'प्रतिशोध' कहानी में मधुसूदन बाबू नामक एक रिटायर सरकारी कर्मचारी है। वह अविवाहित है। स्त्री जाति से वह घृणा करता है। इस बीच उसकी दोस्ती दामोदर नामक व्यक्ति के साथ होता है। उसकी विधवा बहन दमयंती की साज का सही रख-रखाव, सुर का ज्ञान सब देखकर वह दमयंती के प्रति आकृष्ट होता है। दोनों के बीच बीस साल का अंतर है इसलिए वह उसके साथ विवाह का प्रस्ताव रख नहीं पाता है। अपनी माँ की मृत्यु के बाद दमयंती को दूसरे शहर की एक कॉलेज में जहाँ वह पहले नौकरी करती थी, फिर से नौकरी मिल जाती है। वह शहर छोड़कर जाने ही वाली थी कि मधुसूदन बाबू उसे रोकने के लिए कॉलेज के चेयरमेन को ऐसा पत्र लिखता है कि - "एक निहायत कड़वा, अश्लील खत, जिसमें दमयंती के साथ उनका अपना नाम जोड़कर हर संभव तरीके की भद्दी परिकल्पनाएँ गूँथी गयी थी और अंत में यह सविनय निवेदन किया गया था कि ऐसी पतिता, कुलटा, दुश्चरित्रा स्त्री को, जो अपने बाप की उम्र के बुजुर्ग के साथ छिनाली करती है, कतई उनके जैसे संभ्रांत कॉलेज में पुनः स्थान न दिया जाय।"[1] एक पुरुष कई स्त्रियों से संबंध बनाए तो भी पुरुषसत्ता की नैतिकता उसे चरित्रहीन घोषित नहीं करती। लेकिन किसी पुरुष से संबंध जोडे बिना भी पुरुषसत्ता स्त्री को बड़ी आसानी से 'पतिता' ठहरा सकती

---

1. मृणाल पाण्डे बचुली चौकीदारिन की कढ़ी (सं), प्रतिशोध, 1990 पृ. 46

है। लिंग भेद का शारीरिक आधार सही है। लेकिन लिंग भेद को सांस्कृतिक आधार देते ही सबसे पहले संस्कृति प्रदूषित हो जाती है। कारण संस्कृति में मनुष्य विभाजिक नहीं है। मनुष्य स्त्री भी है पुरुष भी। सभी विभाजन समाज के बिखराव ने, उसकी अधिकार लोलुपता ने या उसकी अपसंस्कृति ने समय समय पर बनाया है।

संस्कृति और जाति व्यवस्था

जाति व्यवस्था के समाजशास्त्र पर विचार करते समय सबसे पहले अधिकार की लालसा से युक्त एक वर्ग सामने आता है। उसके द्वारा परिचालित एवं कार्यान्वित सामाजिक विधि व्यवस्था कालांतर में समाज के लिए मान्य हो जाती है। अस्पृश्यता का नियम उसी का एक अंग है।

प्रभुत्व वर्ग द्वारा निर्मित जाति व्यवस्था की जड़ धार्मिक सत्ता पर टिकी हुई है। ब्राह्मणवाद धर्म का इस्तेमाल कर दूसरों पर अपना स्वामित्व जमाता है। धर्म की विकृत अवधारणा उच्चवर्ग के हाथ का हथियार है। 'ईश्वर', 'भाग्य' जैसे शब्दों को मनमाने ढंग से व्याख्यायित करके उच्चवर्ग ने 'श्रेष्ठता' की अवधारणा पर अपना कब्जा कर लिया है। अपने श्रेष्ठत्व को सुरक्षित रखने के लिए उसने संहिताओं का निर्माण किया है। गैरद्विज को इसके वाचन करने और उस पर प्रश्नचिन्ह लगाने तक की अनुमति नहीं दी गयी है। आज भी उच्चवर्ग झूठे मिथकों को गढ़कर निम्नवर्ग को कभी मुग्ध एवं कभी भयभीत करके अपने शिकंजे में बाँधकर रखता है। इसप्रकार सवर्ण वर्चस्व गैर द्विज को अधिकारविहीन बनाकर पशु से भी बदत्तर ज़िंदगी जीने के लिए विवश बना देता है। यही

नहीं ब्राह्मणवाद के अनुसार यह पशुवत जिंदगी दलित की नियति है। त्रासद की बात यह है कि दलित स्वयं ब्राह्मणों की श्रेष्ठता एवं अपनी निम्नता को स्वीकार करता है। शैलेश मटियानी की 'प्रेत-मुक्ति' कहानी का किसनराम ऐसा ही एक हरिजन है। वह हमेशा अपने बचपन के ब्राह्मण दोस्त से आत्मा, परमात्मा आदि के बारे में पूछता रहता है। वह शास्त्रों की बात बहुत अभिभूत होकर सुनता भी रहता है। भले ही शास्त्रों में उसकी जगह पशु से भी बदत्तर क्यों न हो। अपनी इस दुरवस्था के प्रति वह सचेत नहीं है। अपनी निम्नता को स्वयं स्वीकार करते हुए वह कहता है "महाराज, शास्तरों में तो आत्मा-परमात्मा के ही मन्तर लिखे हुए रहते हैं न? आपके चरणों का सेवक ठहरा, दो-चार मन्तर मेरे अपवित्तर कानों में भी पड़ जाएँ, तो मेरी आत्मा का मैल भी छँट जाए। क्या करूँ, गुसाई! घास खानेवाले पशु बैल नहीं हुए, अनाज खानेवाला पशु किसनराम ही हो गया।"[1] दलितों की इस मानसिकता के चलते वह हर गंदे कामों को धर्म का पालन समझकर करता है। यहीं नहीं अपने प्रति किये जानेवाले अन्याय के प्रति प्रतिक्रियाविहीन भी रहता है।

ब्राह्मणवाद द्वारा गढ़ित धार्मिक मान्यताएँ दलित के सामाजिक ही नहीं आध्यात्मिक अस्तित्व तक को नष्ट करा देती है। दलितों की यह स्थिति उदय प्रकाश की 'दत्तात्रेय के दु:ख' कहानी में वर्णित है। "ब्रह्मणडों की संख्या अनंत है। हर ब्रह्माण्ड में 10^{11} आकाश-गंगाएँ हैं। हर आकाशगंगा में 10^{11} ग्रह और नक्षत्र हैं। हर ग्रह में 10^{11} विनायक

1. शैलेश मटियानी - शैलेश मटियानी की प्रतिनिधि कहानियाँ (सं), प्रेतमुक्ति, 1985, पृ. 140

दत्तात्रेय हैं। और हर विनायक दत्तात्रेय के 10^{11} दु:ख हैं।"[1] धर्म की अवधारणाएँ चाहे जितनी महान क्यों न हो, व्यावहारिक संदर्भ में धर्म दलितों के प्रति अमानवीय स्थितियों का जनक है। यह मनुष्य के आध्यात्मिक एवं सामाजिक अस्तित्व को अनुशासित करके उसे वर्णाश्रम के दायरे में रख देता है। अत: वर्णाश्रम एक ब्रह्माण्डव्यापी सर्वसत्तावाद है। इसलिए कोई भी दलित जो स्वीकृत धर्म के मानकों को स्वीकारता है, वह निरंतर शोषित होता रहता है।

कभी-कभी सवर्ण लोग दलितों के धार्मिक हस्तक्षेप को स्वीकारने का ढोंग रचते हैं। इस प्रकरण में यह सवाल उठता है कि दलितों के धार्मिक हस्तक्षेप को सवर्ण कहाँ तक स्वीकारता है? दलितों के धार्मिक हस्तक्षेप के द्वारा सवर्ण का कोई स्वार्थ सिद्ध होता है तो वह उसे बेहिचक स्वीकारने के लिए तैयार है। जब दलितों का यह हस्तक्षेप सवर्ण के वर्चस्व के आधार तक पहुँचता है तो वह अपनी मनगढ़ंत धार्मिक धारणाओं के ज़रिए उसे दबा देता है। एस.आर. हरनोट की कहानी 'सवर्ण देवता दलित देवता' में शिब्बू मिस्त्री अपनी मन्नत पूरा करने के लिए देवता को चँदी का बड़ा छत्तर चढ़ाता है। देवता को यह छत्तर उसने स्वयं चढ़ाया था। इसलिए सवर्ण लोग उस पर रथ अपवित्र करने का आरोप लगा देते हैं। वे लोग देवी का रथ अपवित्र करने के जुर्म में उससे 2000 रुपया जुर्माना वसूलने एवं उसे गाँव से निकालने का फैसला सुनाते हैं। प्रस्तोता पात्र इस अन्याय के संबंध में कहता है "शिब्बू

---

1. उदय प्रकाश दत्तात्रेय के दुख, 2002, पृ. 11

हरिजन का चाँदी देवता को भा गया। उससे रथ अपवित्र न हुआ। एक ब्राह्मण उसकी ज़मीन बाह खा रहा है। उसे भी कोई छोत नहीं लगी।"[1] अतः सवर्ण की धार्मिक उदारता एक पाखण्ड है। वह पाखण्ड को अपनाकर शोषण करता है। जयप्रकाश कर्दम के अनुसार - "ब्राह्मणवाद का पोषक वर्ग पाखण्डों का पोषण और महिमा मण्डन करता है, और दलित पिछड़े वर्गों को इन पाखण्डों में उलझाए रखकर निरंतर उनका शोषण करता है। धार्मिक अंधविश्वास और पाखण्डों ने समाज के छोटे से ब्राह्मण-पुरोहित वर्ग के हितों की पूर्ति के अलावा शेष समाज का कोई हित नहीं किया है।"[2] ब्राह्मणवाद द्वारा गढ़ित प्रगतिशील दिखनेवाले समस्त विचारों की तह में यह पाखण्ड छिपा हुआ है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणवाद एक धार्मिक सत्ता मात्र नहीं है। वह एक आर्थिक सत्ता तंत्र भी है। अतः जाति व्यवस्था का पूँजीवाद के साथ गहन संबंध है। दोनों की नींव शोषण पर टिकी हुई हैं। रमणिका गुप्ता के अनुसार "पूँजीवादी व्यवस्था और ब्राह्मणवादी व्यवस्था में कोई खास अंतर नहीं है। वे दोनों अपने वर्चस्व के लिए दूसरों को अधिकारों से वंचित करने, दूसरों के तन-मन-धन पर कब्जा करने की हद तक जाकर अपने लिए सुविधा और साधन जुटाने में विश्वास करते हैं।"[3] अतः दोनों का संबंध बहुत गहरा है। ब्राह्मणवाद ने हमेशा शारीरिक

---

1. सूरज प्रकाश (सं) कथा दशक, एस.आर. हरनोट, सवर्ण देवता दलित देवता, 2004, पृ. 27
2. जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य (वार्षिकी), 2006, पृ. 11
3. रमणिका गुप्ता - दलित चेतना साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, 2004, पृ. 62

श्रम से अपने को दूर रखा है। लेकिन शारीरिक श्रम द्‌वारा प्राप्त उपलब्धियों एवं सुविधाओं से वह अपने को वंचित करने के लिए तैयार नहीं है। इसके लिए वह अपनी धर्मगत श्रेष्ठता का इस्तेमाल करता है। वह निम्न कही जानेवाली जाति के लोगों को शिक्षित होने का अधिकार नहीं देता। यहीं नहीं, अलाभप्रद एवं अस्वच्छ व्यवसाय, जैसे-मैला उठाना, चमडे छीनना, मुर्दा फेंकना आदि को दलितों के जन्मगत एवं जातिगत नियति से जोड़ देता है और खुद के लिए स्वच्छ माहौल सुरक्षित रखता है। लेकिन अगर कोई दलित अपने पेशे को बदल भी लें तो भी उसे बराबर का इंसान मानने के लिए द्विजवर्ग तैयार नहीं होता। स्वयं प्रकाश की 'बेमकान' कहानी में मोहनलाल टेलिफोन एक्सचेंज में मैकेनिक है। उसे रहने के लिए मकान चाहिए। बहुत ढूँढ़ने पर भी उसे मकान नहीं मिला। काम देखकर उसे मकान देने के लिए तैयार मकान मालिकों को जब यह पता चलता है कि मोहनलाल हरिजन है तो वे उन्हें मकान देने के लिए तैयार नहीं होते। वे हर हाल में दलित को अपने बराबर का इंसान मानने के लिए तैयार नहीं। प्रस्तुत कहानी का मोहनलाल पूछता है "क्या मैं चमडे का काम कर रहा हूँ? क्या मैं मरा जानवर खा रहा हूँ? क्या मैं दारू पीकर घरवाली को पीट रहा हूँ? क्या मेरे बच्चे गालियाँ बक रहे हैं?"[1] यहाँ ब्राह्मणवाद 'कर्मशुद्ध' दलित को 'रक्त शुद्धता' की डंडे से दूर भगाता है। क्योंकि उसे हर हाल में अपनी 'श्रेष्ठता' को बनाया रखना है। 'शुद्धता' के इस भ्रम से दलितों को बड़ी आसानी से मानवीय अधिकारों से वंचित करा सकता है।

---

1. स्वयं प्रकाश आएँगे अच्छे दिन भी, बेमकान, 1991, पृ. 58

जैसे पहले उल्लेख किया है कि ब्राह्मणवाद पूँजीवाद की तरह आर्थिक सत्ता तंत्र है। दोनों का मकसद है सुविधाएँ प्राप्त करना। इसके लिए ब्राह्मणवाद धार्मिक सत्ता का इस्तेमाल तो करते हैं, पर ब्राह्मणवाद धार्मिक श्रेष्ठता को पूँजी या सुविधा प्राप्ति के रास्ते में रुकावट पैदा करने नहीं देता। अतः इस संदर्भ में पिछडे ब्राह्मणों की स्थिति जातिगत दलितों से भिन्न नहीं है। पिछडे ब्राह्मणों की जातीय श्रेष्ठता उसे अपनी आर्थिक बदहाली से बचा नहीं सकता। ब्राह्मणवाद के इस आर्थिक ढाँचे को भालचन्द्र जोशी ने 'लौटा तो भय' कहानी में किया है। इसमें भुवन नामक बेरोज़गार ब्राह्मण युवक की बहन नीची जाति के एक बडी नौकरीवाले लड़के के साथ शादी करती है। भुवन जब पूछता है कि एक बडी नौकरीवाले लड़के से शादी करनी ही थी तो अपनी बिरादरी से क्यों न चुना, तो बहन जवाब देती है - "तुम जिन लड़कों की बात कर रहे हो, वे हमारे जैसे 'लोअर क्लास' से लड़की नहीं लेते हैं। वे अपनी ही 'अपर क्लास' से पत्नी चुनते हैं। जाति के अभिमान का बोझ ये हमारे जैसे लोगों के लिए छोड़ देते हैं।"[1] सिर्फ बिरादरी के खातिर कोई भी संपन्न सवर्ण लड़का अपनी ही बिरादरी के निर्धन लड़की के साथ संबंध रखने के लिए तैयार नहीं है। अर्थ के संदर्भ में सजातीय गठबंधन एक प्रहसन बनकर रह जाता है। ब्राह्मणवाद के लिए अपने फायदे से बढ़कर कोई भी धार्मिक तंत्र प्रिय नहीं है। यहाँ आकर दलित शब्द विस्तार की माँग रखता है। पिछडे सवर्ण भी दलित के अंतर्गत आते हैं।

---

1. भालचंद्र जोशी लौटा तो भय, हंस, दिसंबर 2005, पृ. 28

ब्राह्मणवाद के आर्थिक सत्ता तंत्र को गहराई से समझने के लिए जाति व्यवस्था को ज़मीन की समस्या से जोड़कर देखना उचित है। क्योंकि बिहार, आध्रप्रदेश, महाराष्ट्र आदि कई प्रदेशों में घटित दलित हत्याओं की जड़ में ज़मीन समस्या ही है। गाँव की अर्थ व्यवस्था अब भी भूमि केंद्रित है। उस पर से अधिकांश ज़मीन अगड़ी जातियों के पुराने ज़मीनदार एवं कुछ नवधनाढ्य पिछड़ी जातियों के कब्जे में हैं। छोटे किसान, खेतिहर मज़दूर, बटाईदार आदि अधिकांश भूमिहीन हैं। जिनमें अधिकांश दलित हैं। उनमें पिछडे अल्पसंख्यक और दो-चार अगडे भी हैं। सरकार के भूमि-सुधार कानून एवं जमींदारी उन्मूलन कानून के पारित करने के बाद भी अधिकांश दलित एवं पिछडे भूमिहीन हैं। भूमि-सुधार के तहत बांटी गयी ज़मीनों का पट्टा भूमिहीनों के पास है, पर उन ज़मीनों पर अभिजात वर्गों का ही कब्ज़ा है। यहीं नहीं इन अभिजात वर्गों ने राजस्व कर्मचारियों, नौकरशाही और राजनीतिज्ञों के साथ मिलकर रिकार्डों की हेराफेरी भी कर ली है। खुद की खेती के नाम पर बहुत से ज़मीन अपने पास रख ली है। साथ ही ऐसे लोगों के नाम पर ज़मीनें बाँट दीं जो थे ही नहीं। अंत में तमाम सुधार कानूनों के बाद दलित भूमिहीन रह गया। पट्टेदार खेतिहर मज़दूरों के द्वारा मज़दूरी माँगने पर या उसके खुद की ज़मीन पर अधिकार जताने पर सारे अभिजात वर्ग संगठित होकर उसे मार देते हैं। रामदरश मिश्र की 'सर्प-दंश' कहानी इस ज्वलंत यथार्थ को सामने ले आती है। इसमें गोकुल एक हरिजन मज़दूर है। वह प्रधानजी की ज़मीन पर खेती करता है। खेत उफनकर खडा होता है तो प्रधान के मन में लालच और बेईमानी आ जाता है। वह खेत से गोकुल को भगा देता

है और बदले में एक बंजर खेत देता है। लकिन गोकुल अपने खेत की फसल छोडने के लिए तैयार नहीं होता। फसल लेने आये गोकुल पर चोरी का आरोप लगा देता है।

"सरऊ चोरी करने गये थे न। अच्छा हुआ सांप ने काट लिया।"

"नहीं, मैं चोरी करने नहीं गया था। बालियां तोड़ थीं, लेकिन चोरी नहीं की।"

"अच्छा तो क्या तेरे बाप का खेत है?"

"खेत आपका है, लेकिन फसल मेरी है।"[1]

दलित एवं पिछडों के द्वारा अधिकारों के माँगने का नतीजा नरसंहार के रूप में सामने आता है। इस नरसंहार में कई दलित एवं पिछडे मारे जाते हैं। बिहार मात्र में 95 लाख ऐसे खेतिहर मज़दूर हैं जिनमें से अधिकांश दलित एवं भूमिहीन हैं। पर कोई भी ज़मीन समस्या को दलित संघर्ष से जोड़ने के लिए तैयार नहीं है। सुवीरा जायसवाल के अनुसार "यह सर्वविदित है कि दलित जातियों का बहुलांश भूमिहीन है जिसके लिए वर्ग आधारित संघर्ष की आवश्यकता है। तभी उनकी अवस्था में सुधार हो सकता है। पर दलित नेताओं का ध्यान शिक्षा और नौकरियों में आरक्षण पर ही केंद्रित है।"[2] अतः ब्राह्मणवाद में इतनी ताकत है कि वह अपने खिलाफ के संघर्ष तक को छद्म दिशा की ओर मुड़ा सके।

---

1. गिरिराज शरण अग्रवाल (सं) - दलित जीवन की कहानियाँ, रामदरश मिश्र - सर्प-दंश, 2002, पृ. 122
2. सुवीरा जायसवाल दलित अस्मिता और एजेण्डा 'जाति विनाश' का (लेख), तत्भव, जनवरी-2007, पृ. 36

संक्षेप में, जाति व्यवस्था हमारी संस्कृति में व्याप्त एक कोढ है। इसका संबंध सिर्फ धर्म तक सीमित नहीं है। यह तो वर्ण, वर्ग एवं लिंग केंद्रित एक सत्ता तंत्र है। स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व को न माननेवाले सभी लोग इस सत्ता तंत्र के दायरे में आते हैं। अतः दलित शोषण सिर्फ सवर्ण द्‌वारा रचा षड्‌यंत्र मात्र नहीं है, बल्कि अपनी वर्चस्व मानसिकता के चलते कोई भी, चाहे वह निम्न जाति का व्यक्ति ही क्यों न हो, इस व्यवस्था का पोषक बन सकता है।

संस्कृति और सांप्रदायिकता

संस्कृति निरंतर विकसित होनेवाली चेतना है। संस्कृति आपसी संपर्क से विकसित होती है। अतः समन्वयात्मकता संस्कृति की पहचान है। लेकिन वर्तमान संदर्भ में अक्सर संस्कृति की समन्वयात्मकता को कुंठित करके उसे विभाजन के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। तब धार्मिक, देशीय, प्रांतीय आदि संस्कृतियाँ एक दूसरे का पोषक न बनकर आपसी टकराहट का निदान बनती हैं। अतः संस्कृति की समन्वयात्मकता को नष्ट कराकर विभाजन को प्रश्रय देनेवाली अपसंस्कृति का नाम है सांप्रदायिकता। सांप्रदायिकता संस्कृति एवं सामाजिक जीवन को विकृत बनाती है।

सांप्रदायिकता का कार्यक्षेत्र है सामाजिक मानस। सांप्रदायिकता सामाजिक मानस पर एकाधिकार कायम करना चाहती है। इसके लिए वह सामाजिक मानस के उदार पक्ष का हनन करके उसे आंतरिक गमन के लिए प्रेरित करती है। तब वह संकुचितता के दायरे में सिमट जाता है।

ऐसे में चाहे धर्म हो, व्यक्ति हो या प्रांत हो अपनी सांस्कृतिक ऊर्जा से वंचित होकर सांप्रदायिकता को प्रश्रय देनेवाला संगठन बन जाता है। इसमें धर्म सांप्रदायिकता के हाथ का एक सशक्त हथियार है। यों तो धर्म का संबंध सत्य से है। लेकिन सांप्रदायिकता के संदर्भ में धर्म का यह सत्य पक्ष नगण्य बन जाता है और स्वत्व पक्ष प्रमुख हो जाता है। सत्य से विरत स्वत्व में समन्वयात्मकता की क्षमता नहीं है। तब यह सिर्फ संकुचितता और टकराहट को जन्म देता है। फलतः व्यक्ति के लिए धर्म मुख्य बन जाता है और मनुष्य गौण। उसका मनुष्यत्व 'हम' और 'तुम' में बंट जाता है। 'हम' ने 'तुम' में से कितने लोगों की हत्या की है इसे 'हम' की बहादुरी और धार्मिक तल्लीनता माना जाता है। मनुष्य को सिर्फ मृत आँकड़ों में बदलनेवाली इस अपसंस्कृति असगर वजाहत की 'मुश्किल काम' में दर्ज है। इसमें एक दंगे के बाद दंगा करनेवाले दो दलों की मीटिंग इत्तफाकी से एक मदिरालय में होती है। दोनों टीमों के बीच बातचीत होने लगती हैं कि पिछले दंगों में किसने कितनी बहादुरी दिखाई, किसने कितना लूटा, मारा, आग लगाई, बम फेंके आदि। "पहले गिरोह के नेता ने कहा - "तुम लोग तो जन्खे हो, जन्खे.... हमने सौ दुकानें फूँकी।" दूसरे ने कहा, "उसमें तुम्हारा कोई कमाल नहीं है। जिस दिन तुमने आग लगाई, उस दिन तेज़ हवा चल रही थी.... आग तो हमने लगाई थी जिसमें तेरह आदमी जल मरे थे।" बात चूँकि आग से आदमियों पर आ गयी थी, इसलिए पहले ने कहा, "तुम तेरह की बात करते हो? हमने छब्बीस आदमी मारे हैं"[1]

---

1. असगर वजाहत सब कहाँ, कुछ (सं), मुश्किल काम, 1996, पृ. 47

नितांत संवेदनशून्यता को यहाँ बहादुरी की दृष्टि से देखा जाता है। इस संवेदनशून्य अमानवीय स्वत्व के आगे मानवीयता के स्वत्व के लिए कोई स्थान नहीं है।

धार्मिक स्वत्व को वरीयता मिलने का एक अन्य कारण है गैर धार्मिक स्वत्व का विलोपन। धार्मिक स्वत्व के आगे विलुप्त होनेवाला एक गैर धार्मिक स्वत्व है देशीयता। यानी देशवासी हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख तो बन जाते हैं पर भारतीय बनना भूल जाते हैं। सांप्रदायिकता किस प्रकार देशीय स्वत्व को खत्म करती है यह विचारणीय है। इसके लिए सांप्रदायिकता देश से जुडे ऐतिहासिक अनुभवों को नकारती है। भारत का उपनिवेशीकरण ऐसा ही एक ऐतिहासिक अनुभव है। इस जटिल अनुभव को, सांप्रदायिकता इस्लामी या ईसाई धर्म और भारतीय सांस्कृतिक छवि के बीच की टकराहट के रूप में सरलीकृत करके प्रस्तुत करती है। फलतः 'भारतीय' छवि के साथ हिन्दू धर्म स्वतः जुड़ जाता है और बाकी धर्म सब अभारतीय बन जाते हैं। भारतीय इतिहास पर होनेवाले इस सांप्रदायिक हमले के संबंध में रोमीला थापर का कथन है कि

"अतीत के कुछ खास चरित्रों को जब एक विशेष योजना के तहत चुना जाता है उन्हें नायकों के रूप में पेश किया जाताहै - मसलन राणा प्रताप, शिवाजी तथा गुरू गोविंद सिंह, जो सभी हिंदू दायरे में आते हैं और मुसलमानों के खिलाफ लड़ने के लिए जाने जाते हैं - तो इस कोशिश का मकसद आज के जमाने में मुसलमानों के खिलाफ शत्रुता का प्रचार करना होता है। इतिहास में दूसरी हस्तियाँ भी हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से इनकी तुलना में अधिक महत्वपूर्ण रही हैं, मसलन अशोक तथा अकबर। लेकिन

भारतीय समाज के लिए उनका संदेश कुछ और ही था और इसलिए सांप्रदायिक प्रचार में उनकी अनदेखी कर दी जाती है। ये सब इतिहास के दुरुपयोग के स्वतः स्पष्ट स्तर हैं।"[1] अतः सांप्रदायिक शक्तियाँ गैर हिंदू धर्मावलंबियों पर उनके 'अभारतीय' होने की चादर बिछाकर बड़ी आसानी से उन्हें भारतीय इतिहास से परहेज कर देती हैं। इस प्रकार वे मात्र धार्मिक स्वत्व को देशीय स्वत्व के रूप में प्रस्तुत करती हैं। फलतः देशीय चेतना टूट जाती है। लोग धर्म के आधार पर, यहाँ तक कि धार्मिक स्वत्व के प्रतीक चिन्हों के आधार पर एक दूसरे पर विश्वास और अविश्वास करने लगते हैं। कुसुम अंसल की 'यादों के सहयात्री' कहानी में ऐसे ही एक झुंड लोगों का चित्रण है जो मनुष्य को सिर्फ धार्मिक स्वत्व के प्रतीक चिन्हों के रूप में देखकर उसपर अविश्वास करते हैं। इसमें राघव नामक पात्र अपने पिता की राख को लेकर अमरिका से भारत आ रहा था। दिल्ली से जब वह ट्रेन पकड़ता है तो सब लोग उसकी बढी दाढ़ी को देखकर उसे मुसलमान समझकर डर जाते हैं। दरअसल उसने अपने पिता की मृत्यु के बाद शेव नहीं किया था। लोग उसे मुसलमान समझकर शक की निगाह से देखने लगते हैं। उसे खिड़की तक खोलने नहीं देते। एक यात्री उसे देखकर कहता है कि "आजकल सेफ नहीं है हर किसी के साथ सफर करना। हो सकता है मिला हुआ हो", दूसरा कहता है - "देखा नहीं पूरा आतंकवादी लगता है... दाढ़ी को देखो।"[2] जिस दाढ़ी के साथ

---

1. मालिनी भट्टाचार्य (सं) - अयोध्या कुछ सवाल, रोमिला थापर, सांप्रदायिकता और इतिहास (लेख), 1994, पृ. 18
2. कुसुम अंसल धुएं की ईमानदारी (सं), यादों के सहयात्री, 1999, पृ. 57

आदमी के व्यक्तित्व का कोई संबंध नहीं उसके आधार पर उसे मुसलमान बनाम आतंकवादी तक ठहराने की स्थिति बहुत ही त्रासद है। यह अविश्वास और असुरक्षित अवस्था व्यक्ति को और भी कट्टर धार्मिक बना देता है। तब वह धार्मिक स्वत्व को ही अपनी पहचान के रूप में स्वीकार करता है। देशीय चेतना तब पूर्णतः टूट जाती है।

देशीय चेतना को तोड़ने एवं व्यक्ति को कट्टर धार्मिक बनाने के संदर्भ में भाषागत सांप्रदायिकता का योगदान भी उल्लेखनीय है। देशीय चेतना सांस्कृतिक समन्वयात्मक भावना से जन्म लेती है। भाषा को संकुचित दायरे में बाँधकर सांस्कृतिक समन्वयात्मकता को अवरुद्ध कर सकती है। क्योंकि भाषा सांस्कृतिक विकास का माध्यम है। सांप्रदायिक शक्तियाँ इस सांस्कृतिक अवरुद्धता के लिए संस्कृत एवं हिन्दी को हिन्दुओं की और उर्दू को मुसलमानों की भाषा के रूप में घोषित कर देती हैं। सच्चाई यह है कि संस्कृत या हिन्दी मात्र हिन्दुओं की भाषा नहीं है। यह अधिकांश मुसलमानों की व्यावहारिक भाषा भी है। और तो और उर्दू कभी भी आम मुसलमानों की बोलचाल की भाषा नहीं थी। मुसलमानों की अधिकांश आबादी असम, केरल, पश्चिम बंगाल, जम्मू और कश्मीर में है। वे ज्यादात्तर अपने-अपने प्रदेशों की भाषा बोलते हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे उत्तरी प्रदेशों में भी मुसलमानों का ऊपरी तबका ही उर्दू का प्रयोग करते हैं। फिर भी उसे मुसलमानों की भाषा घोषित करके उनके मन में स्थानीय भाषा एवं अन्य भाषाओं के प्रति अलगाव पैदा कर देती हैं। भाषा के जातिगत अलगाव के कारण दोनों धर्मों के लोग मात्र अपनी-अपनी जातीय भाषा से जुड़ते हैं और बाकि भाषाओं को घृणा की

दृष्टि से देखते हैं। भाषागत सांप्रदायिकता इतना प्रबल है कि लोगों को मुसलमानों द्वारा संस्कृत या हिन्दी और हिन्दुओं द्वारा उर्दू भाषा की पकड़ का दावा करना मात्र अस्वाभाविक लगता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'अधर्मयुद्ध' कहानी का प्रस्तोता पात्र एक मुसलमान है। वह सेठ रामचंद्रजी के कॉलेज में हिन्दी प्राध्यापक के इण्टरव्यू के लिए आता है। इण्टरव्यू मात्र एक बहाना था, फिर भी उससे पूछता है कि मुसलमान होते हुए भी उसने हिन्दी में एम.ए. क्यों किया? हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है फिर भी हिन्दू धर्म उस भाषा पर अपने जातीय वर्चस्व की घोषणा करता है। राष्ट्रभाषा पर किये जानेवाले वर्चस्व के दावे के ज़रिए हिन्दू धर्म राष्ट्रीय संस्कृति पर अपना एकाधिकार जमाता है और गैर हिन्दुओं को 'अन्यों' का दर्जा देकर खारिज करता है। 'अधर्मयुद्ध' का नायक भी इस अन्याय का शिकार बनता है। हिन्दू लोग उसके साथ कॉलेज में, आवास स्थान में, यहाँ तक पानी पीने के ग्लास तक में छुआछूत बरतते हैं। यह देखकर वह सोचता है - "क्या यही दिन देखने के लिए मैं ने शरीर जलाया है। रात-रात भर काव्यशास्त्र और भाषाविज्ञान की पुस्तकें चाटता रहा हूँ। विश्वविद्यालय परिसर में तुलसी और प्रसाद पर सोचता रहा हूँ। वेद, गीता और मानस का मनन करता रहा हूँ। घरवालों की इच्छा के विरुद्ध भी मैं ने यह सब किया है। पर मुझे क्या मिला? अपाहिज वेतन की नौकरी और जाति के नाम पर अपमान।"[1] सांप्रदायिक शक्तियाँ भाषा को कट्टर धार्मिकता के दायरे में बाँधकर उसके स्वच्छ विकास को रोकती

---

1. अब्दुल बिस्मिल्लाह रैनबसेरा (सं), अधर्मयुद्ध, 2001, पृ. 76

हैं। भाषा के स्वच्छ विकास की अवरुद्धता वास्तव में संस्कृति के स्वच्छ विकास की अवरुद्धता है, जो सांप्रदायिक शक्तियों का मकसद है। अधिकार की पृष्ठभूमि में भाषा और संस्कृति के तालमेल में होनेवाले परिवर्तन के संबंध में एक निरीक्षण इस प्रकार है - "अधिकार केंद्रित विकास भाषा को भी अधिकार के केंद्र में लाता है। अपनी पारदर्शी अवस्था में संस्कृति में जिस अनुपात में भाषा जुड़ती है, वही अधिकार-केंद्रित होने के बाद संस्कृति से अलग होती है। तमाम प्रकार की संकीर्णताओं को तब वह वहन करने लगती है। वह भाषा, जो एक समय तक दूसरी भाषाओं को आत्मसात् करने की त्वरित इच्छा व्यक्त कर रही थी, वही सभी भाषाओं और उनकी लघु संस्कृतियों को दुश्मनी भाव से देखना शुरू करती है। वह अपने को भारतीयता से मुक्त रखना चाहती है।"[1] अतः भाषा सांप्रदायिकता के हाथ का सशक्त औज़ार है। इसके आधार पर वह आसानी से कहीं भी सांस्कृतिक अलगाव पैदा करके अपना वर्चस्व ज़मा सकती है।

सांप्रदायिक शक्तियों द्वारा निर्मित सांस्कृतिक अलगाव फासीवादियों को ताकत प्रदान करता है। फासीवादी शक्तियाँ विभिन्न कट्टर धार्मिक स्वत्वों के बीच की असंतुलित अवस्था को स्थायित्व प्रदान करने की कोशिश करती हैं। क्योंकि फासीवादी शक्तियों का अस्तित्व इस ध्रुवीकरण पर आधारित है। असगर वजाहत की 'पहचान' कहानी में फासीवादी ताकतों के इस रवैये का खुलकर चित्रण हुआ है। इसमें घृणाचार्य और

1. ए. अरविन्दाक्षन साहित्य, संस्कृति और भारतीयता, 2008 पृ. 76

उनके शिष्यों के बीच की बातचीत है। घृणाचार्य का लक्ष्य है घृणा फैलाना। घृणाचार्य की चाल की वजह से 'वे' 'इनसे' और 'उनसे' 'वे' घृणा करने लगे। एक दिन एक शिष्य आकर कहता है कि इस भूखंड से 'उनका' सफाया हो गया तब घृणाचार्य बताता है कि यह शुभ समाचार नहीं है, बल्कि खुद के अस्तित्व को हिलाने वाली समस्या है। वह कहता है - "उनसे' घृणा करने के कारण ही तो हमारा अस्तित्व था। 'वे' नहीं रहे तो हम 'इनक़ो' किससे भयभीत करेंगे। 'इनके' मन में किसके प्रति घृणा का संचार करेंगे? यदि 'वे' अपने को सुरक्षित समझने लगे तो हमें कौन पूछेगा? क्यों सम्मान मिलेगा? क्यों धन मिलेगा? तुमने अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारी है शिष्य।"[1] अतः घृणा ही सांप्रदायिक शक्तियों के अस्तित्व का आधार है। इसके फैलाव के लिए सांप्रदायिक शक्तियाँ एक अप्रासंगिक मुद्दे को प्रासंगिक बनाकर प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के लिए वे एक विवादित ढाँचे को, जो तब तक एक अप्रासंगिक मुद्दा था, 'रामजन्म भूमि' एवं 'बाबरी मस्जिद' में तब्दील कराती हैं। क्रमशः उसका संबंध हिन्दू स्वत्व और इस्लाम स्वत्व के साथ जुड जाता है। फलतः लोग देशीय स्वत्व को भूलकर धार्मिक स्वत्वों के लिए लड़ने लगते हैं। ऊपर से यह लड़ाई हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म के बीच चलनेवाली लड़ाई लगती है, पर वास्तव में यह फासीवादी सांप्रदायिक शक्तियों द्वारा निर्मित धार्मिक स्वत्वों के बीच की लड़ाई है। आलोचक सत्यप्रकाश ने लगातार चलते इस स्वत्व द्वन्द्व के संबंध में कहा है - "यह एक साम्राज्यवादी देश

---

1. असगर वजाहत सब कहाँ, कुछ (सं), पहचान, 1996, पृ. 44

का फासीवाद नहीं है जो नस्ली श्रेष्ठता के नारे देता हुआ विश्वविजय की बातें करे। यह तो यूरोप और अमेरिका के चौधरियों के तलवे चाटते हुए, सैकड़ों साल पहले के हमलावर बादशाहों का बदला लेने के नाम पर आम, गरीब लोगों को कुचलकर धन, धर्म और जाति से 'श्रेष्ठ' जनों का रामराज्य कायम करना चाहता है।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि धार्मिक स्वत्वों का निर्माण एवं उनकी टकराहट एक योजनाबद्ध कार्यक्रम है।

जैसे पहले उल्लेख किया है कि एक अप्रासंगिक मुद्दे को प्रासंगिक बनाकर धार्मिक स्वत्व देशीय स्वत्व पर हावी होता है। मुख्य देशीय समस्याओं की अप्रासंगिकता इसकी स्वाभाविक परिणति है। धार्मिक स्वत्व के लिए देश की अहम समस्याएँ जैसे जनता की गरीबी, शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोज़गारी आदि मुद्दे महत्वपूर्ण नहीं है। वह हमेशा 'एक ही धार्मिक स्वत्व' को सभी समस्याओं के समाधान के रूप में प्रस्तुत करता है। इस विवेक रहित भावना के गिरफ्त में पढ़नेवाला व्यक्ति दूसरे धर्मावलंबियों को सारी समस्याओं की जड़ के रूप में देखता है और उसके समाधान हेतु दूसरों के नामोनिशान तक मिटाने के लिए तैयार हो जाता है। इस तरह की कट्टर धार्मिक भावना का शिकार बना व्यक्ति अपने ही धर्म की असहिष्णुता एवं सामाजिक सरोकारविहीनता को अनदेखा करता है। असगर वजाहत की 'जख्म' कहानी का मुख्तार ऐसे ही एक भ्रम का शिकार है। वह कट्टर मुसलमान है। वह समझता है कि भारत में कई धर्म के लोगों के रहने के कारण बराबरी का सिद्धांत लागू नहीं होता। उसके

---

1. सत्यप्रकाश - फासीवादी मुहिम का नया मुकाम : गुजरात (लेख), सृजन परिप्रेक्ष्य, शिशिर-वसंत, 2002, पृ. 13

अनुसार इस्लाम बराबरी सिखाता है। पाकिस्तान में सिर्फ इस्लाम धर्म के लोग रहते हैं। इसलिए वह समझता है पाकिस्तान में बराबरी है। इस सोच के कारण वह हमेशा पाकिस्तान की तारीफ करता है। वह पाकिस्तान में वर्तमान धार्मिक बराबरी को तो देखता है पर वहाँ के भौतिक गैर बराबरी के प्रति उसका ध्यान नहीं जाता। कहानी का प्रस्तोता पात्र धार्मिक बराबरी की आढ में पनपनेवाली भौतिक गैर बराबरी की ओर इसप्रकार इशारा करता है - "क्या वहाँ गरीबों अमीरों में वैसा ही फर्क नहीं है जैसा यहाँ है, क्या वहाँ रिश्वत नहीं चलती, क्या वहाँ भाई-भतीजावाद नहीं है, क्या वहाँ पंजाबी-सिन्धी और मोहाजिर 'फीलिंग' नहीं है? क्या पुलिस लोगों को फँसाकर पैसा नहीं वसूलती?"[1] धार्मिक स्वत्व, बराबरी का एक भ्रम मात्र देता है। सांप्रदायिकता द्वारा निर्मित धार्मिक स्वत्व कभी भी आमआदमी की समस्याओं का समाधान नहीं चाहता। इन समस्याओं का इस्तेमाल मात्र उसका लक्ष्य है। रमणिका गुप्ता के अनुसार "संप्रदायवाद पर धार्मिकता का मुखौटा लगाकर भारतीय संस्कृति के गौरव का रंग चढ़ाकर, उसे मान-प्रतिष्ठा और शूरवीरता का प्रतीक बनाने की चेष्टा करने लगी। हर्षद मेहता अरबों रुपया गोलमाल कर गये, पर भारत की लोकसभा में अयोध्या ही गूंजती रही। देश में जब मज़दूर जमात और बेरोज़गार, बोट-क्लब पर महंगाई के खिलाफ लाखों की संख्या में आवाज़ उठाने आये तो लोकसभा में महंगाई पर नहीं, बेरोज़गारी पर नहीं, केवल अयोध्या पर बहसें होती रहीं। पूरे देश की शांति-संतुलन का केंद्र बन गये अयोध्या के

---

1. असगर वजाहत उनका डर तथा अन्य कहानियाँ (सं), जख्म, 2004, पृ. 92

बाबरी मस्जिद और राम जन्मभूमि मंदिर"[1] अतः सांप्रदायिकता मात्र एक धार्मिक समस्या नहीं है। वह धर्म की आढ में पनपनेवाली एक शोषण केंद्रित व्यवस्था है। इसकी नींव अलगाववाद पर टिकी हुई है।

संसकृति का बाज़ारीकरण

संस्कृति का बाज़ारीकरण सांस्कृतिक विघटन का सर्वोत्तम उदाहरण है। उसका प्रकट रूप है उपभोक्तावाद। बाज़ारवाद उन्मुक्त उपभोग या उपभोक्तावाद को बढ़ावा देता है। यह एक मूल्यविघटित स्थिति को जन्म देता है। उपभोक्तावाद सभी को मात्र उपभोग्य क्षमता के आधार पर आँकता है। फलतः किसी वस्तु या व्यक्ति की महत्ता उसके उपभोग-मूल्य पर निर्भर हो जाती है। इस पतनोन्मुख स्थिति का चित्रण चित्रा मुद्‌गल ने 'लाक्षागृह' कहानी में किया है। इसमें सुन्नी एक नौकरीपेशा स्त्री है। वह चालीस वर्ष की है। देखने में बदसूरत है इसलिए अभी तक उसकी शादी नहीं हुई है। उसके ही दफ्तर में काम करनेवाला सिन्हा उससे शादी करने के लिए तैयार हो जाता है। एक बदसूरत स्त्री से शादी करने के इरादे के संबंध में दफ्तर के ही सामीनाथन के पूछने पर सिन्हा इसप्रकार बताता है कि - "आठ सौ रुपये महीने कमानेवाली कहाँ मिलेगी? सौदे की कोई शक्ल-सूरत नहीं होती मेरे यार। मैं जीवन और व्यावहारिकता को एक-दूसरे का पूरक मानता हुँ। नहीं तो देखने में ठीक-ठाक आशा...... घर चलाने के मामले में अधिक सही लड़की है।"[2] उपभोग संस्कृति में धन के

---

1. रमणिका गुप्ता   सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे, 2004, पृ. 68
2. चित्रा मुद्‌गल   मामला आगे बढेगा अभी (सं), लाक्षागृह, 1994   पृ. 91

आगे व्यक्ति एवं उसके व्यक्तित्व के लिए कोई जगह नहीं है। उपभोग संस्कृति वास्तव में धन केंद्रित संस्कृति है। एक जनतांत्रिक व्यवस्था का इस धन केंद्रित संस्कृति से संचालित होना एक गंभीर समस्या है। निर्धन की उपेक्षा एवं शीघ्र बढ़ती असमता इसका परिणाम है। इसके चलते अमीर और अधिक अमीर बन जाता है और गरीब और अधिक गरीब। इस बढ़ती असमता का प्रखर रूप है अकाल। एक जनतांत्रिक देश के अकाल को प्रदेश विशेष की भोजन प्राप्ति की दुर्लभता से मात्र जोड़कर देखना उचित नहीं है। अकाल वास्तव में अधिकार संपन्न अभिजनों की निष्ठुरता का दृष्टांत है। अकालग्रस्त लोगों की संख्या देश की कुल आबादी के मुकाबले बहुत कम है। इसलिए कुल देशीय उत्पादन आय के तीन प्रतिशत मात्र खर्च करने पर अकाल का प्रतिरोध कर सकते हैं। लेकिन आर्थिक व्यवस्था का लगाम संभाले हुए अभिजन इसके लिए तैयार नहीं होते। क्योंकि वे धनकेंद्रित अमानवीय मूल्यबोध से संचालित हैं। इस निर्दयता का परिणाम है आमआदमी की बेमौत। आज तक दुनिया में जितने भी अकाल हुए हैं उनमें पड़कर किसी शासक की मृत्यु नहीं हुई है। इसलिए शासन तंत्र चलानेवाले अभिजनों के लिए अकाल एक अगंभीर यथार्थ है।

उपभोक्तावाद धन को व्यक्ति से भी ज़्यादा अहमियत देता है। धन यहाँ व्यक्तित्व बनाने की पहली शर्त है। इसके चलते समाज में धन प्राप्ति की होड़ लग जाती है। हर व्यक्ति धन कमाकर अपमान ग्लानि से मुक्त होना चाहता है। इसके लिए अक्सर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व तक को गिरवी

रखने के लिए तैयार हो जाता है। धन की यह गुलामी भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है। उदय प्रकाश की 'मोहनदास' कहानी का विश्वनाथ नामक उच्च जाति का पात्र ओरियंटल कोल माइंस कंपनी में जूनियर डिपो ऑफिसर का आरक्षित पद हड़पने के लिए खुद को मोहनदास नाम का दूसरा व्यक्ति बनाकर पेश करता है। धन के अनुचर बने नौकरशाही इस झूठ को सही ठहराते हैं। इस भ्रष्टाचार की जाँच करने के लिए नियुक्त किशोर पटवारी तक रिश्वत लेकर सच को झूठ में बदलने के लिए तैयार होता है। वह कहता है - "अरे आप लोगों का हुकुम हम कभी टालेंगे भला?.... इतने एमाउंट में तो हम ससुर.... मूस को हाथी, खेत को सड़क अउर छक्का को छह बच्चों की अम्मां बना दें' कमल किशोर पटवारी मगन होकर, नोट को अपने बैग में डालते हुए फुदक रहा था।"[1] फलतः असली मोहनदास को झूठा घोषित कर दिया जाता है। इस धन केंद्रित समाज का आधार है झूठ, कृत्रिमता और ढोंग। इस नये सांस्कृतिक बोध के संबंध में सुधीश पचौरी ने लिखा है कि "छलना में, प्रपंच में जाना, जाने की बढ़ती ललक, स्वयं को सहज यथार्थ से काटकर बनाए यथार्थ में ले आना, बनाए अति चंचल यथार्थ में हिस्सेदार बना लेना नितांत नया सांस्कृतिक अनुभव एवं बोध है। इसे पोस्ट मॉडर्न भावबोध कहा जा सकता है।"[2] इस कारण से सत्य एवं अकृत्रिमता अवहेलित होती है। इन मूल्यों की उपेक्षा करके कोई भी संस्कृति अधिक जीवित नहीं रह सकती।

1. उदय प्रकाश मोहन दास, हंस, अगस्त 2005, पृ. 121
2. सुधीश पचौरी - फासीवादी संस्कृति और सेकुलर पॉप-संस्कृति, 2005, पृ. 17

सत्य एवं अकृत्रिमता की अवहेलना वास्तव में लघु मानव एवं उसकी संस्कृति का निषेध है। उपभोक्तावादी संस्कृति का अस्तित्व ही इस निषेध पर टिका हुआ है। लघु संस्कृतियों के अस्तित्व का आधार शुद्ध समतावाद पर स्थित है। इसको नष्ट किये बिना उपभोक्तावाद की अमानवीयता फैल नहीं सकती। क्योंकि समतावाद उन्मुक्त उपभोग के खिलाफ है। यह समतावादी दृष्टिकोण एवं उससे जन्मी जीवनरीति स्वत्व संपन्न आदमी के पास सुरक्षित है। यह उसकी जीवनी शक्ति भी है। इसलिए स्वत्व संपन्न आदमी को फालतू घोषित करना उपभोक्तावाद की विराट संस्कृति का मकसद है। स्वत्व संपन्न आमआदमी के विश्वास एवं जीवन रीतियों को बदलकर उसकी संस्कृति के अस्तित्व को मिटा देनेवाली विराट संस्कृति की निष्ठुरता का अंकन स्वयं प्रकाश ने 'कहाँ जाओगे बाबा' कहानी में किया है। इसमें मास्टर रामरतन वर्मा शहर से बहुत दूर एक जगह पर जीवन भर की जमापूँजी, भविष्य निधि आदि लगाकर एक मकान बनाता है। मकान बनवाते समय रामरतन मास्टर के मन में एक इच्छा थी। वह है सूर्योदय एवं सूर्यास्त के रंगीन दृश्य, पंछियों की चहचहाहट, शुद्ध हवा और गहरी शांति। उसने सोचा था कि सेवानिवृत्ति के बाद उस मकान में रहेंगे, पूजा-पाठ करेंगे, लिखेंगे-पढ़ेंगे एवं स्वाध्याय करेंगे। मकान बनने के बाद मास्टर का तबादला होता है और उस मकान में उसका बेटा नवीन जो फेर्टीलाइसर कंपनी में जूनियर इंजीनीयर है - रहने लगता है। बहुत साल बाद स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर अपने मकान में आने पर मास्टर का सामना एक बिल्कुल भिन्न परिवेश से होता है। बेड रूम में कूलर रखा है। नीम का एक पेड़ सूख गया है और दूसरा कन्सट्रेक्शन के लिए काट

दिया है। मकान के आँगन में किराये पर गाड़ी रखे हुए हैं, एस.टी.डी बूत्त भी बनाया हुआ है। किसी समय जो इलाके का एकमात्र और भव्य मकान हुआ करता था और जिसके लिए मास्टर रामरतन वर्मा ने अपने जीवन भर की जमापूँजी लगा दिया था, अब इस क्षेत्र का सबसे छोटा और पुराना मकान बन गया है। चारों ओर शोर, बदबू, गर्मी एवं संकुचित लोगों से भर गया है। कहने को वहाँ सब है स्कूल, सड़कें, गैस एजेंसी, शॉपिंग सेंटर, अस्पताल, यातायात के साधन, मंदिर, कम्यूनिटी सेंटर आदि। पर इसके बावजूद मन को प्रफुल्ल करनेवाली कोई बात नहीं है। शुद्ध हवा और साफ पानी तक नहीं। यहाँ बदला परिवेश स्वत्व संपन्न आम आदमी के सामने जीवन का एक अपरिचित चेहरा पेश करता है। फलत: जीवन पर से उसका विश्वास उठ जाता है। तब उसके लिए जीवन एक फालतू चीज़ बन जाता है और वह मास्टर रामरतन जैसा सोचता है कि "क्यों नहीं सोच पाये कि जब तक घर में रहने आ पायेंगे, जिंदगी इस लायक बचेगी ही नहीं कि.... या वे स्वयं जिंदगी लायक नहीं बचेंगे।"[1] यहाँ विराट संस्कृति ने एक लोक संस्कृति को फालतू का दर्जा देकर उसे हाशिये की दहलीज़ पर छोड़ दिया है। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि उपभोक्तावाद मात्र आर्थिक वर्चस्व पर केंद्रित प्रक्रिया नहीं है बल्कि सांस्कृतिक वर्चस्व भी इसका एक अभिन्न अंग है।

बाज़ार आखिर अपना वर्चस्व क्यों स्थापित करना चाहता है? सांस्कृतिक वैविध्य बाज़ार के लिए प्रतिरोध की स्थिति पैदा कर देता है।

---

1. स्वयं प्रकाश - आधी सदी का सफरनामा (सं), कहाँ जाओगे बाबा, 2006, पृ. 61

इसलिए वह समस्त राज्यों से यह अपेक्षा करता है कि वे एक संस्कृति और एक व्यवस्था को ही मानें। सभी की माँगें, आशाएँ एवं आकांक्षाएँ बाज़ार से नियंत्रित हो। इस प्रतिरोधहीनता के लिए सांस्कृतिक वर्चस्व-जो मुख्यतः पश्चिमी संस्कृति पर केंद्रित है - का स्थापित होना बहुत ज़रूरी है। इसे सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कहते हैं। रमेश उपाध्याय के अनुसार "साम्राज्यवाद आर्थिक, राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से परम शक्तिशाली होते हुए भी लोगों से कहता है, तुम पिछडे हुए हो, हम तुम्हारा विकास करना चाहते हैं। पुराने साम्राज्यवाद के समय भी यही सब कहा जाता था। इस तरह उपनिवेशों में रहनेवाले लोगों का दिमाग बदलने की कोशिश ही सांस्कृतिक साम्राज्यवाद है।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का कार्यक्षेत्र मुख्यतः लोगों का दिमाग है। वह लोगों के मन में पश्चिमी संस्कृति की श्रेष्ठता को भरता है। फलतः लोग अपनी ही संस्कृति को तुच्छ समझने लगते हैं। उदय प्रकाश की 'पॉल गोमरा का स्कूटर' का रामगोपाल सक्सेना इस बौद्धिक गुलामी का शिकार होता है और अपना नाम पॉल गोमरा में बदल देता है। "पॉल गोमरा का असली नाम राम गोपाल सक्सेना था। बस, तकनीकी सामाजिक परिवर्तन, भूमंडलीकरण, सूचना और संचार में क्रांति, समाजवाद के पतन और समूची पृथ्वी पर फैलते बाजार के नए यथार्थ की रोशनी में राम गोपाल सक्सेना को अपना नाम प्रेमचंद, लल्लू लाल, सदल मिश्र, नवजादिक लाल, हज़ारीप्रसाद, करोड़ीमल, कबीरदास, केदारनाथ, सदासुख लाल जैसा पिछड़ा, दकियानूस

---

1. रमेश उपाध्याय बेहतर दुनिया की तलाश में, 2007 पृ. 322-323

और निचले दर्जे का लगने लगा था। ऐसे नाम दिल्ली के सफाई कर्मचारियों, ठेले-रेहड़ीवालों और कुली-कबाड़ियों के होते थे।"[1] अतः सांस्कृतिक साम्राज्यवाद लोगों को अपनी देशीय संस्कृति से अलग करा देता है। फलतः लोग देशीय भावना एवं उससे जुडे ऐतिहासिक अनुभव से वंचित हो जाते हैं। उदय प्रकाश के अनुसार "राज्य सिर्फ आर्थिक राजनीतिक संगठन भर नहीं है बल्कि वह ऐसी सांस्कृतिक संरचना भी है जो हमारी चेतना में गतिशील होती है।"[2] जब हमारी चेतना इस देशीय भावना से वंचित होती है तब देशीय व्यवस्था का बिखराव संभव है। यह बिखराव ही सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का मकसद है।

देशीय भावना जब प्रदर्शन की वस्तु मात्र बन जाती है तब उसका स्वभाव विकासमूलक अवधारणा से हट जाता है। वह बाज़ार के हाथ का एक औज़ार बन जाता है। तब देशप्रेम उपभोक्ता को प्रभावित करने के लिए प्रयुक्त छवि मात्र बनकर रह जाता है। 'पॉल गोमरा का स्कूटर' का पॉल गोमरा अपनी सुविधा के लिए एक स्कूटर खरीदता है। लेकिन वह इस सच्चाई को छिपाकर अपने स्कूटर को देशप्रेम के प्रतीक के रूप में देखता है। वह सोचता है - "जिस ईंधन से यह स्कूटर अपनी गति हासिल करेगा वह पेट्रोलियम और कुछ नहीं, हज़ारों साल तक पृथ्वी के गर्भ की अग्नि और नैसर्गिक ऊष्मा से रूपांतरित वनस्पतियों का ही तो तरल कार्बनिक प्ररूप है। और इसकी तकनीक, जिसके द्वारा इसकी गति

---

1. उदय प्रकाश पॉल गोमरा का स्कूटर, 2004 पृ. 43
2. उदय प्रकाश अपनी उनकी बात, 2008 पृ. 116

नियंत्रित होती है, पहिए घूमते हैं और यह दौड़ता है, उस तकनीक का सार दाँती और चरखी की वही यंत्र प्रणाली है जिसका प्रयोग महात्मा गाँधी ने चरखे के प्रतीकात्मक रूप में, ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध किया था। इस तरह स्कूटर प्रतीकात्मक रूप से नव-औपनिवेशिक, भू-मंडलीकृत उपभोक्तावादी, बाज़ारू साम्राज्यवाद का सशक्त प्रतिरोध है।"[1] यहाँ देशप्रेमी और उपभोक्ता को अलग करके देखने का प्रावधान नहीं है। जो सबसे बड़ा उपभोक्ता है वही सबसे बड़ा देशप्रेमी है। अतः लोगों को देशप्रेमी बनने के लिए, न देशसेवा करनी है न खून बहाना है, सिर्फ उपभोक्ता बनना है। बाज़ार इसका इस्तेमाल कई तरह से करते हैं जैसे उसके विज्ञापन के अनुसार अगर आप टी.वी खरीदते तो उसमें से सौ रुपया रक्षा कोष में जायेंगे। अगर आप देशप्रेमी है तो अमुख ब्रांड का टी.वी खरीदीए। इसप्रकार बाज़ार देशप्रेम को मात्र बाज़ार के लिए अनुकूल धन के विनिमय में बदल देता है।

संस्कृति और मीडिया

मीडिया संचार क्षेत्र है। उसका संस्कृति से कुछ लेना देना नहीं है। लेकिन वह जीवन को, यथार्थ को, राजनीति को अपने ढंग से प्रस्तुत करता है। इस बीच वह संस्कृति को भी साधन के रूप में लेता है। आज सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को फैलानेवाली एक संस्था है जन-संचार माध्यम। देश के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के निर्माण में अब इनकी कोई रुचि नहीं रही है। वे बाज़ारोन्मुख सभ्यता के निर्माण में लगे हुए हैं।

---

1. उदय प्रकाश पॉल गोमरा का स्कूटर, 2004 पृ. 52-53

आमआदमी के हितों से इनका कोई सरोकार नहीं है। यहीं नहीं वे इनके यथार्थों को तमस्कृत करने में भी लगे हुए हैं। महेश कटारे की 'कुकाल में हंटर' नामक कहानी में एक अकालग्रस्त गाँव का चित्रण है। यह गाँव अकाल के दौर से गुज़र रहा है। अनाज और पानी की अनुपलब्धि के कारण लोग गाँव छोड़कर खानाबदोशों की तरह जाने के लिए विवश हो रहे हैं। कई लोग आत्महत्या करते हैं। लेकिन मीडिया इस गहन संकट को सिर्फ स्थानीय संकट के रूप में देखता है और इसके चित्रण में कोई दिलचस्पी तक नहीं दिखाता। उसके लिए शोक मनाने योग्य कई 'राष्ट्रीय संकट' है जैसे "पहली यह कि इंडिया की टीम ने बुरी तरह घुटनें टेक दिये हैं। दूसरी में कहीं किसी परदेसिन ने भारतीय नारी का अभिनय करने गयी शिल्पा शेट्टी नामक नायिका को रुलाकर मनुष्यता के प्रति ऐसा अपराध कर दिया कि सरकारें सिहर उठीं। और तीसरी खबर में शेयर नाम का स्वर्ण-पाखी किसी निचली बुर्ज पर उतर गया था। वैसे इन राष्ट्रीय दुर्घटनाओं से यहाँ के रहवासियों का दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है। यहाँ तो जैसे अकाल ही स्थायी भाव बनकर पसर गया है।"[1] मीड़िया की दृष्टि में इंडिया की खुशी क्रिकेट की जीत, शिल्पा शेट्टी की हँसी, शेयर मार्कट का चढ़ाव आदि में निहित है। आमआदमी की खुशी तो क्या उसका अस्तित्व तक भी मीड़िया के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। इसलिए प्रायः आमआदमी अपने मौत के बाद ही 'खबर' बनता है। जब 'खबर' की नवीनता एवं उत्सुकता खोती है तब मीड़िया उसकी मौत एवं जीवन

1. महेश कटारे कुकाल में हंटर, कथन, अप्रैल-जून 2007 पृ. 17

से जुड़े भीषण यथार्थो को बेतुक छोड़ दिया जाता है। तब उसका यथार्थ लोगों तक अपने सही मायने में पहुँच नहीं पाता। अतः मीड़िया उस तरह से उसके यथार्थ को तमस्कृत करके उसे दबाता है। ऐसे में कह सकते हैं कि मीड़िया की भूमिका पूँजीवाद के हाथ के औज़ार से बढ़कर नहीं है।

उपभोक्तावादी संस्कृति के निर्माण में भी मीड़िया का महत्वपूर्ण योगदान है। वह लोगों के मन में बाज़ार के लिए अनुकूल माँगों का निर्माण करता है। ओमा शर्मा के अनुसार "मीड़िया समकालीनता में व्याप्त उपभोक्तावादी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। और औज़ार भी। मीड़िया जिसे हम मुख्यतः दृश्य और कुछ हद तक प्रिन्ट के रूप में जानते-पहचानते हैं, अब मनुष्य की अभिव्यक्ति के संप्रेषण का नहीं उस उपभोक्तावाद और बाज़ार के मंतव्यों का हिस्सा है जो उनके फलने-फूलने के लिए बेहद फायदेमंद उत्प्रेरक का काम करता है। उपभोक्ता वस्तुओं को मीड़िया उनके उपभोक्ता तक संप्रेषित ही नहीं करता, वह उसकी पसंद नापसंद को भी नियोजित निर्धारित करता है।"[1] उपभोग वस्तुओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न कराने के लिए मीड़िया किसी भी स्तर तक गिरने के लिए तैयार है। मीडिया का ऐसे ही एक खिलौना हरकत है स्त्री देह का एक वस्तु के रूप में प्रस्तुतीकरण। गाडी, मोटर साईकिल, फ्रिज, क्रीम पाउडर, जूते आदि चीज़ों को बेचने में मीड़िया स्त्री देह का इस्तेमाल करता है। उदय प्रकाश की 'पॉल गोमरा का स्कूटर' में स्त्री की इस वस्तुकरण का चित्रण है।

---

1. ओमा शर्मा मीडिया और साहित्य तुलनात्मक नोट्स (लेख), अनभै, अप्रैल-सितंबर, 2006 पृ. 73

गंगाराम हॉस्पिटल के सफाई कर्मचारी राम औतार आर्य के सत्रह साल की बेटी है सुनीता। वह किसी टी.वी के विज्ञापन में आठ फुट बाइ चार फुट साइज के विशाल ब्लेड़ के मॉडल पर नंगी सोती है और रातों रात मालामाल हो जाती है। इसी तरह विज्ञापन द्‌वारा इस्तेमाल की जानेवाली एक अन्य पात्रा है आशा। वह 'द ब्लैक हॉर्स' नामक बियर के विज्ञापन में खुद को बियर के झाग में बदलती दिखाकर दर्शकों में 'सेक्स की फीलिंग' पैदा करा देती है। फलतः 'द ब्लैक हॉर्स' बियर के अनुमानित लक्ष्य से 27 प्रतिशत ज्यादा बिक्री होती है। इन विज्ञापनों में स्त्री की भूमिका एक व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि भोग की मानसिकता पैदा करानेवाली एक वस्तु के रूप में है। लोग सहज भाव से इस वस्तुकरण को स्वीकारते हैं। फलतः स्त्री की दैहिक छवि को वास्तविक स्त्री छवि का दर्जा मिलता है। स्त्री व्यक्तित्व् के इस सरलीकरण के दुष्प्रभाव से अक्सर स्त्री तक बच नहीं पाती। तब वह मीडिया द्‌वारा प्रक्षेपित स्त्री छवि को अपनाकर एक भोक्ता और भोग्या बनने के लिए तैयार होती है। प्रभा खेतान के अनुसार "मीडिया द्‌वारा प्रस्तुत स्त्री की यह मोहक छवि हर औरत के मन में बस गई है। हर औरत इसी छवि के अनुरूप स्वयं को ढालना चाहती है। मीडिया उसे बताता है कि वह कौन-सा तेल लगाए? किस शैंपू का इस्तेमाल करे? कैसे कपडे पहने? मीडिया ने उसके मन में बैठा दिया है कि यदि वह स्वयं को मीडिया द्‌वारा प्रस्तुत छवि के अनुकूल ढाल सकेगी तो वह एक सफल गृहिणी और ममतामयी माँ लगेगी। उसका भी यौन जीवन आनंद से भरपूर होगा। उसे भी कैरियर की सीढ़ियाँ उपलब्ध होंगी। यदि वह मीडिया द्‌वारा प्रस्तुत छवि के अनुकूल नहीं ढल

पा रही, यदि वह ढीली-ढाली, मोटी और काली है तो उसकी कोई कीमत नहीं। दूसरों की नज़र में वह अवांछित है।"[1] अतः स्त्री इस दैहिक छवि के चक्कर में पड़कर अपने गरिमामय व्यक्तित्व से वंचित हो जाती है। मीडिया उसे बाज़ार द्वारा इस्तेमाल की जानेवाली वस्तु में परिवर्तित कर देती है। इसप्रकार मीड़िया मनुष्य को सिर्फ बाजारू मूल्य के आधार पर देखने की संस्कृति को बढ़ावा देती है।

मीडिया आज सांस्कृतिक लगाम संभाले हुए वर्गों की धारणाओं का प्रचारक मात्र है। फिर भी वह लोकतंत्र का चौथा खंभा होने का भ्रम फैलाता रहता है। अब भी आमआदमी की उम्मीद इस पर टिका हुआ है। मीडिया इस उम्मीद का इस्तेमाल बखूबी ढंग से करता है। वह लोगों के सामने युटोपिया के छद्‌म रूपों को परोसता है। यहीं नहीं वास्तविक युटोपिया गढ़नेवालों को दबाने की लंबी प्रक्रियाएँ मीड़िया की पृष्ठभूमि में स्वाभाविक एवं सहज ढंग से चलती भी रहती हैं। मीडिया की पृष्ठभूमि में चलनेवाली इस जनविरोधी कार्यवाइयों का लंबा चित्रण मृणाल पाण्डे ने 'चार दिन की जवानी तेरी' कहानी में किया है। इसमें सामाजिक सरोकार से रहित एक अखबार के दफ्तर का चित्रण है। यहाँ के संपादक हर दिन संपादकीय मीटिंग तो बुलाते हैं, पर लिखते अपने से ऊपरवाले लोगों की मर्जी पर। वह इसलिए कि उसकी नौकरी ऊपरवालों की दया पर टिकी हुई है। अगर कोई पत्रकार दिल लगाकर काम करने की कोशिश करता है तो दफ्तर के बाकि लोग गोलबन्द होकर उसके नैतिक बल क्षीण करने

---

1. प्रभा खेतान भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, 2007 पृ. 232-233

में लग जाते हैं। खबरों की खोज में उन लोगों की कोई दिलचस्पी नहीं। वे लोग सिर्फ दी गयी खबरों को छापने में लगे हुए हैं। अतः आज पत्रकार बनने के लिए समाज से जुड़ने की ज़रूरत तक नहीं है। पत्रकार की इस सामाजिक सरोकारविहीन स्थिति कहानी के जोशी नामक पात्र के इस विचार से व्यक्त होती है - "पत्रकारों से सब लोग राजनीति पर ही बात क्यों करते होंगे, जैसे कि जानते न हों कि ज्यादेतर समय एक पत्रकार राजनीति के बाहर अपनी बस पकड़ के दफ्तर जाता, पान खाता-थूकता और पनवाडी के खोखे के आगे रस्सी से सिगरेट सुलगाता होता है। या फिर लड़ता-हँसता-गुस्सा होता, सड़क से गुज़रती नामहीन लड़कियों पर लालसाभारी नज़र डालता, शाम को खाने में क्या होगा सोचता पाया जा सकता है।"[1] मीड़िया का यह जनविरोधी रवैया कभी भी प्रकट नहीं होता। अतः होता यह है कि मानवीयता को लापरवाही के हथियार से कुचलकर मीड़िया अपना लोकतांत्रिक चेहरा बनाया रखता है।

संस्कृति के अपने व्यावहारिक परिदृश्य में वस्तुतः एक उन्नत नैतिक चिंतन, नैतिक आदर्श और नैतिक लोकतंत्र को ही स्थान प्राप्त है। परंतु आज के सांस्कृतिक विघटन की विस्फोटनकारी स्थिति यह है कि उपरोक्त नैतिकताओं का ही ढिंढ़ोरा पीटा जा रहा है और नेपथ्य में एक भिन्न नाटक खेला जा रहा है। समकालीन कहानी इस विघटन को महसूस करा रही है। सांस्कृतिक विघटन आज साहित्य या सामाजिक विज्ञान का विषय मात्र नहीं है। बल्कि वह आज के जीवन यथार्थ का प्रतिफलित रूप है।

---

1 मृणाल पाण्डे चार दिन की जवानी तेरी, 1995, पृ. 107-108

अध्याय - 5

समकालीन कहानी का प्रतिरोधी संसार

समकालीन कहानी का लघु समाज

समकालीन कहानी समकालीन जीवन से उसकी संपृक्तता की रचनात्मक परिणति है। अर्थात् सामयिक परिवेश के प्रति संवेदनात्मक रुख अपनाये बिना समकालीन कहानी का लिखा जाना असंभव है। समकालीन कहानी में विन्यसित लघु समाज कहानिकारों की इस सामाजिक प्रतिबद्धता के सूचक हैं। लघु समाज वास्तव में मानवीय अधिकार से वंचित सामान्य जनों से युक्त जीवंत समाज है। अतः लघु समाज से जुड़ा लघु शब्द किसी समाज की कमज़ोरी को या लघुता को द्योतित करनेवाला शब्द नहीं, बल्कि पीड़ित सामान्य जनों की सामूहिकता को प्रकट करनेवाली जातिवाचक संज्ञा है। सवाल यह है कि समकालीन कहानी में दर्ज इन लघु समाजों की चर्चा क्यों आवश्यक है? अपसंस्कृति के आगे लघु समाज और उसकी संस्कृति नगण्य है।वह उसके अस्तित्व को नष्ट करा देती है। समकालीन कहानी इस ध्वंस के यथार्थ को अपने भीतर समेटी हुई है। अतः लघु समाजों के यथार्थ का प्रस्तुतीकरण खुद एक प्रतिरोध है।

समकालीन कहानी में लघु समाज के अंकन की शुरुआत प्रेमचंद की कहानियों से होती है। समाज, राजनीति, धर्म और अर्थव्यवस्था की विसंगतियों के प्रति स्पष्ट प्रतिरोध उनकी कहानियों में है। कफन, ठाकुर का कुआँ, पूस की रात जैसी कहानियाँ इसके दृष्टांत हैं। पर उस ज़माने

की रचनाओं में प्रतिरोध के एक व्यापक संदर्भ की कमी थी। लघु समाज के अंकन के ज़रिए प्रतिरोध के एक विस्तृत फलक की शुरुआत 75-80 के बाद की कहानियों में हुई हैं।

समकालीन कहानी लघु समाज के यथार्थों को विस्तृत पटल पर उतारती है। इनमें कुछ कहानियों में लघु समाज अपनी प्रतिक्रियाओं के अभाव सहित चित्रित है। इन कहानियों में प्रतिरोध नहीं के बराबर है। इनमें लघु समाज अपनी विवशता तथा बेबसी सहित प्रकट है। स्वयं प्रकाश की 'गुमशुदा' कहानी में एक कंपनी में काम करनेवाला गजानंद लापता हो जाता है। उसी कारखाने में काम करनेवाला वामनराव गजानंद को ढूँढने के लिए अपने अफसर से मदद मांगने के लिए आता है। गजानंद की लापता होने की खबर को वह गंभीरता से प्रस्तुत करता है। लेकिन अफसर के लिए इससे भी गंभीर बातें थीं जैसे चाय पीना, सिगरेट फूँकना, टी वी देखना, टी वी के एक धारावाहिक में गुम हुए आदमी के बारे में चर्चा करना आदि। कहानी का प्रसंग इसप्रकार है -

"तो क्या हुआ गजानंद को"

"साहब, वो परसों शाम से ही गायब है। पहले तो उसकी घरवाली ने....

इसी बीच भीतर के कमरे से कोई बच्चा निकला साहब उससे बोले "ए विक्की"

"क्या डैडी?"

UNIVERSITY LIBRARY
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE
COCHIN 682 022

बेटे ये किताबें ले जाओ अंदर अपनी। और जल्दी से टेबल्स पूरी कर लो, नहीं तो टी वी देखने बैठ जाओगे और कल ट्यूटर आएगा तो उसके सामने मुँह फुलाकर बैठे रहोगे।" लड़का एक विज्ञापन जिंगल गुनगुनाता हुआ किताबें समेटकर चलने को हुआ।

"और सुनो।" साहब पीछे से बोले। बच्चा रुका "संतोष से कहना ज़रा चाय भिजवाए।"

बच्चा चला गया। साहब चप्पल में से एक पैर निकालकर उसे गोद में रखकर ऐडी की मरी चमड़ी नोचने लगे।

"हाँ तो भाग गया गजानंद"[1]

यहाँ गजानंद और उसके पाँच-पाँच बच्चे और बीवी के आँसू देखने की दिलचस्पी किसी में भी नहीं। यहाँ एक के संकट को दूसरा बहुत ही हल्के ढंग से लेता है। अफसर टी वी में गायब हुए आदमी पर चर्चा करने के लिए तैयार है पर वास्तविक जीवन में गायब हुए आदमी पर उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। इसका परिणाम है इन्सानियत के नाम पर अफसर के यहाँ आये वामनराव का घोर अपमान। यहाँ अपमान वास्तव में वामनराव का नहीं, इन्सानियत का हुआ है। इस निर्दयता का दूरव्यापी प्रभाव है। कहानी इस ओर इशारा करती है कि समाज में जिन लोगों का अस्तित्व मात्र इन्सानियत और उससे जन्मे मूल्यों पर निर्भर है, वह कितना असुरक्षित है। यह असुरक्षित अवस्था लघु समाज का यथार्थ

---

1. स्वयंप्रकाश आएँगे अच्छे दिन भी (सं), गुमशुदा, 1991 पृ. 45

है। लघु समाज की यह असुरक्षित अवस्था हर पल इन्सानियत की माँग करती है। यहाँ कहानी का बाहरी रूप लघु समाज की बेबसी पर केंद्रित है पर उसका अंतरंग इन्सानियत के लिए स्पंदित है।

लघु समाज के अस्तित्व का आधार है इन्सानियत। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि लघु समाज हमेशा इन्सानियत की प्रतिष्ठा के लिए संघर्षरत समूह है। इन्सानियत के ध्वंस की प्रक्रिया लघु समाज के भीतर भी ज़ारी है। यह अत्यंत गंभीर समस्या है। अपने अस्तित्व के आधार बने श्रेष्ठ मूल्यों को नकारकर स्वयं निरंकुश बननेवाले आमआदमी का चित्रण अरुण प्रकाश ने 'मँझधार किनारे' कहानी में किया है। इसमें असलम और रंजो जमना के किनारे कलंदर कॉलोनी में झुगी डालते हैं। इस कॉलोनी में न ठीक से पानी मिलता है, न शौच के लिए जगह है। इस बदबूदार कॉलोनी के बगल से गुज़रना तक 'नागरिकों' के लिए एक समस्या है। ऐसी कॉलोनी में रहने के लिए बलवन नामक गुंडे के आदमियों को कैम्प-फीस देना पड़ता है। लेकिन असलन यह कैम्प-फीस देने के लिए तैयार नहीं होता। फलतः बलबन के आदमी झुगी में आकर कभी रंजो से बदमाशी करते हैं, कभी धमकी देते हैं तो कभी वे झुग्गी में आगे लगाते हैं। कोई भी उन लोगों की मदद करने के लिए तैयार नहीं होते। इस बीच असलम बलबन के आदमियों को पुलिस से पकड़वाने के लिए कांस्टेबल हरसिंह की हत्या कर देता है। यहीं नहीं वह बलबन की झुग्गी में आग लगा देता है। उसके बाद वह स्वयं गुण्डा बनकर कैम्प-फीस वसूलता है। यहाँ हालातों से विवश होकर निरंकुश बने आमआदमी की विवशता को

न्याय युक्त बताना कहानी का उद्देश्य नहीं है। बल्कि एक भले आदमी को निरंकुश बनानेवाली मूल्य व्यवस्था की अप्रतिरोधी अवस्था को व्यक्त करना कहानी का उद्देश्य है। जिस निरंकुश मूल्य व्यवस्था के कारण आमआदमी का जीवन त्रासद बनता है, एक 'स्वस्थ' जीवन की लालसा में वह उसी मूल्य व्यवस्था को अपनाता है। लघु समाज का यह मूल्य निषेध खुद उसके अस्तित्व को ही खतरे में डाल देता है।

अमानवीय व्यवस्था आमआदमी को मानव की हैसियत से जीने नहीं देती। फिर भी उसे जिंदा रहने के लिए उस अमानवीय व्यवस्था का सेवक बनना पडता है। यह अवस्था आमआदमी के व्यक्तित्व को कुंठित बना देती है। फलतः व्यक्ति अपने अनुभवों एवं संवेदनाओं के अहसास के तल पर भोंथरा बन जाता है। अतः वह एक मशीनी जिंदगी जीने लगता है। इस यथार्थ का चित्रण हरि भटनागर ने 'सेवडी रोटियाँ और जले आलू' कहानी में किया है। इसमें पति एक प्रेस में कम्पोजीटर है। घर की आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय है। परिवारवालों को अच्छा भोजन तक नज़ीब नहीं है। एक दिन नगीना सेठ के यहाँ से शादी का खाना बतौर 'बायना' भेज देता है। पत्नी खुश होती है। वह सोचती है कि यह देखकर उसका पति खुश होगा। उसके मुँह में पानी आ रहा था फिर भी उसने अपने को रोक लिया। बच्चे को भी डाँटकर रोक दिया। वह सोचती है कि साफ-सुथरा घर और स्वादिष्ट भोजन देखकर पति भौरा जाएगा। यह सोचकर वह कमरा साफ करने लगती है। रात को पति थकावट से जूझता हुआ घर आता है। पत्नी थाली सजाकर रखती है। पर वह सूनी

आँखों से खाने को देखता है और खाने लगता है। हाथ मशीनी तौर से मुँह तक जाता है और मुँह हाथ के आते ही मशीनी तौर से खुल जाता है। यह प्रक्रिया चलती रही। जब हाथ को थाली में कुछ नहीं मिला तो उसने खाना बंद कर दिया। बाद में पत्नी स्वादिष्ट भोजन के बारे में पूछती है तो पति आश्चर्य चकित होकर पूछता है कि तूने खाना दिया क्यों नहीं? पत्नी जब हकीकत बताती है तो पति बताता है कि उसे ऐसा कुछ नहीं लगा, सेवडी रोटियाँ और जले आलू के सिवा। यह प्रत्यक्षतः एक मामूली घटना है। पर यह एक मशीनी जिंदगी जीनेवाले आदमी के यथार्थ को प्रस्तुत करती है। यह यथार्थ उतना मामूली नहीं है। मनुष्य को मशीन बनानेवाली व्यवस्था इस यथार्थ के पृष्ठभूमि में कार्यरत है। वहाँ एक आमआदमी अपनी संवेदना, एवं अनुभव को गिरवी रखकर ही जिंदा रह सकता है। यह एक वर्तमान त्रासद सच है।

लघु समाज हमारी वास्तविकता है। आज की जटिल परिस्थितियों के बीच इसके बहुविध रूप हमारे सामने प्रकट होते हैं। उसमें सही और गलत दोनों हैं। उसकी दिशाएँ अच्छी भी हैं कभी बुरी भी हैं। कई प्रकार की विवशताओं में जीने वाला, कई प्रकार की सीमाओं के कारण निरंकुश बनने तक के लिए मज़बूर लघु समाज का यथार्थ कभी सामान्य नहीं होता। यह समकालीन कहानी की विषय वस्तु का वास्तविक अंतरंग है। इस अंतरंग को अपनी गतिशीलता में प्रस्तुत करने का कार्य ही कहानियों ने किया है।

लघु समाज की संस्कृति

अपसंस्कृति की एक तरह की निर्मिति है लघु समाज। लघु समाज वर्चस्व केंद्रित व्यवस्था से बुरी तरह से त्रस्त है। फिर भी बेहतर स्थिति के लिए परिवर्तन की इच्छा उनमें सुरक्षित है। यह इच्छा शक्ति उन्हें प्रतिरोध के लिए प्रेरित करती है। प्रतिरोध से ही बेहतर मानवीय स्थिति स्थापित होती है। अतः प्रतिरोध यहाँ संस्कृति ही है। प्रतिरोध की संस्कृति का मुख्य उद्देश्य न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना है। समकालीन कहानी इस मानवीय संघर्ष को वाणी देती है।

वर्चस्व हमेशा अपने लिए अनुकूल मूल्य व्यवस्था को सृजित करता है। इसके तहत प्रतिरोधी मूल्य के लिए कोई स्थान नहीं है। हर प्रतिकूल स्थितियों के प्रति आँख मूँदना या समझौता करना एक वर्चस्व केंद्रित संस्कृति का मूल्य बोध है। अमानवीय स्थितियों के प्रति अपनायी जानेवाली यह निष्क्रियता वर्चस्व को और ताकत प्रदान करती है। कहानी आमआदमी के जीवन को दुरुस्त करनेवाले समझौतापरस्त जीवन मूल्य को नकारती है। इसके लिए वह स्थित मूल्य को मानवीयता की कसौटी पर कसती है। मिथिलेश्वर की 'मनबोध मउआर' कहानी में मनबोध मउआर एक बूढ़ा है। वह किसी भी अत्याचारों को देखकर चुप नहीं रहता है। वह इसके खिलाफ प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। वह अपनी पत्नी की पिटाई करनेवाले की, माँ की देख-भाल न करनेवाले की, विधवा बहन की संपत्ति हड़पनेवाले की, संपत्ति के लिए भाई को मारनेवाले की टीका टिप्पणी करता है। उसकी इस आदत के कारण लोग उसे जासूस, गँवार,

फिसूल और दूसरों के बीच दखल देनेवाला मानते हैं। फिर भी वह बूढ़ा अपनी इस हरकत को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। उनके पास इसका तर्क यह है कि "आप ई सब का कह रहे हैं धरमदेव बाबू? एह देह का उपयोग जानवर जइसा इसको पालने में नहीं है। परमात्मा के एह संसार के निमित्त लगा देने में है। आप का समझते हैं कि करवइया ही दोष का भागी बनता है, देखवइया नहीं.....? देखवइया का चुप्पिये से तो करवइया का मन बढ़ता है। एक आदमी अनेत करे और दस आदमी उसका कान उमेठें तो फिर कोई अनेत नहीं करे। चुपा के रहे वाला जानत है कि ऊ बचल है आ दोष के भागी नाहीं। बाकिर कोई अउर देखता है। ओकरा नज़र से कुछ नहीं छिपता। आप तो बैंक में हैं। पइसा जामा करे वाला आपके इहाँ खाता खोलता है। एही माफिक कतहूँ ए जीवन के भी खाता है। अइसा नाहीं कि छिपके कर लिया और कोई जान नहीं पाया। ओह खाता में सब कुछ दर्ज होता है, कुछ भी नहीं छूटता। ई शरीर तो मिट्टी का है, मिट्टीए में मिल जाएगा। सही काम में यह शरीर के घवाहिल (जख्मी) होने की फिकिर नहीं करनी चाहिए।"[1] अतः मनबोध मउआर की हरकत सहज मानवीय है। वह दूसरों की तरह अमानवीय स्थितियों के प्रति समझौता करने के लिए तैयार नहीं है। मिथिलेश्वर ने इस लुप्त मानवीय गुण के संबंध में कहा है कि - "आज सरे आम किसी के साथ भी लूटपाट, ज़ोर-जबर्दस्ती और हत्या-बलात्कार की घटनाएँ घट जाती हैं। राह चलते, भीड़-भरी सड़कों और चौराहों पर ऐसी घटनाएँ अंजाम

---

1. मिथिलेश्वर - दस प्रतिनिधि कहानियाँ, मनबोध मउआर, 2006, पृ. 55

पा जाती हैं। लेकिन देखनेवाले या तो तमाशबीन बनकर देखते हैं या दुम दबाकर भाग जाते हैं। लेकिन मेरे गाँव में ऐसे कई लोग थे, जो ऐसी ज्यादतियों के बीच कूद पड़ते थे। मेरे एक बाबा तो ऐसी घटनाओं में हस्तक्षेप के लिए पूरे इलाके में मशहूर थे। ऐसे कार्य के लिए न सिर्फ मुसीबत मोल लेते थे, बल्कि केस-मुकदमे भी झेलते थे। फिर भी प्रसन्न रहते थे कि नेकी और मानवता के रास्ते में परेशानियाँ आती ही हैं।"[1] कहानी यहाँ समझौताविहीन बूढे के ज़रिए स्थित सामाजिक मान्यताओं को मानवीयता की कसौटी पर कसती है। यह स्थित विकृत मानवीय मूल्यों की गरिमा को मानने से इंकार करती है।

मूल्यों के परिदृश्य में अंतर्विरोधों को दिखाने के साथ-साथ कहानी मानवीय मूल्यों के पुनर्सृजन पर बल देती है। मानवीय मूल्यों के पुनर्निर्माण में प्रतिरोध की क्षमता है। अलका सरावगी की 'आपकी हँसी' कहानी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इसमें प्रस्तोता पात्र अपने दोस्तों के साथ पिकनिक मनाने जाते हैं। उनकी टोली में कुल पन्द्रह लोग हैं। इनमें से एक आदमी के दूर के रिश्तेदार के घर वे लोग तीन दिन तक ठहरते हैं। परिवारवाले इन लोगों के आगमन से बिल्कुल भी खुश नहीं है। फिर भी वे लोग औपचारिकता वश मेहमानों का स्वागत -सत्कार करते हैं। जब वे लोग जाने लगते हैं तब परिवारवाले भीतर ही भीतर खुश होकर भी औपचारिकता वश दुख प्रकट करते हैं। "नत्थू बाबू और उनकी बीवी वे सब बातें कर रहे थे जो मेहमानों को विदा करते समय कही जाती हैं

1. मिथिलेश्वर दस प्रतिनिधि कहानियाँ (भूमिका), 2006, पृ. 10

और हम लोग वे सारे जवाब दे रहे थे जो मेहमान ऐसे मौकों पर दिया करते हैं। नत्थू बाबू की बीवी के चेहरे पर सिर की बला टलने का संतोष छुपाए नहीं छुप रहा था। उनके बेटे की बहू जिसने इतने दिन हम लोगों से बात करने की कोई चेष्टा नहीं की थी, कुछ अनमनी सी दिख रही थी। उसने कहा 'आप लोग आए, तो यहाँ चहल-पहल हुई, वरना तो बस.... कहकर चुप हो गई।"[1] मानवीय व्यवहार यहाँ मूल्य रहित बन गया है। अलका सरावगी के अनुसार "यदि स्वतंत्रता और प्रेम हमारे लिए सचमुच मूल्य हैं, तो हमारी कोशिश होगी कि दूसरों को भी हम इन्हें दें। पर होता अक्सर यह है कि हमारे लिए ये मूल्य नहीं होते, बल्कि सिर्फ अपने लिए बटोरी गई सुविधा मात्र होते हैं।"[2] यहाँ मानवीय व्यवहार मूल्यरहित क्यों बन गया है? अपसंस्कृति द्वारा निर्मित व्यवस्था मानवीय संवेदनाओं को भोंथरा बना देती है। फलतः व्यक्ति संवेदना की तह में ईमानदार जीवन से वंचित हो जाता है। यह व्यक्ति के जीवन को कृत्रिम बना देता है। इस कृत्रिम जीवन व्यवस्था के प्रतिरोध के लिए कहानी उन्मुक्त होकर हँसनेवाले एक पात्र का सृजन करती है। उपर्युक्त कहानी में एक नौकर है। वह परिवारवालों के साथ रहता है। वह मेहमानों के आगमन से इतना खुश है कि वह हमेशा सबको देखकर हँसता रहता है और सबकी सेवा करता रहता है। लेकिन कोई उसकी तरफ ध्यान नहीं देता। सब लोग उसे पागल समझते हैं। इस पागल नौकर के पास ऐसा कुछ भी नहीं जिसे देखकर वह खुश हो सके। न उसका घर है, न

---

1. अलका सरावगी कहानी की तलाश में (सं), आपकी हँसी, 2003, पृ. 132
2. अलका सरावगी कहानी की तलाश में (भूमिका), 2003, पृ. 5

रिश्तेदार है, न ओहदा है। पर वह उन्मुक्त होकर सबको देखकर हँस सकता है। मेहमानों एवं परिवारवालों के पास सब कुछ हैं पर वे कभी भी इस तरह उन्मुक्त होकर हँस नहीं पाते। वह इसलिए कि व्यवस्था की मान्यताओं ने उनकी संवेदनाओं को खरीद लिया है। वह नौकर भले ही समाज की स्थित मान्यताओं की कसौटी पर न उतरता हो पर वह संवेदना के स्तर पर एक ईमानदार जीवन जीता है। उसकी हँसी इसका दृष्टांत है। यह हँसी व्यवस्था की मूल्यरहित औपचारिकता के भीतर घुटनेवाले व्यक्ति के बस की बात नहीं है। ऐसे व्यक्ति जब उस नौकर की उन्मुक्त हँसी को देखकर पूछता है कि "बिना पागल हुए कोई इतना हँस सकता है" तो कहानी का केंद्रीय भाव यहाँ अधिक तीव्र होकर यह व्यक्त कर देता है कि मानवीय मूल्य से रहित व्यवस्था आदमी को चेतना के स्तर पर कितना निस्पन्द बना देता है। यह हँसी उसकी चेतना क़ी स्पन्दता एवं ईमानदारी है। मानवीय मूल्य से इसका गहन संबंध है। कहानी मानवीय मूल्यों की गरिमा को मूर्त करके अपसंस्कृति की कृत्रिमता के विपक्ष में खड़ी रहती है।

जैसे पहले कहा गया है कि अपसंस्कृति मूल्य केंद्रित संस्कृति नहीं है। वह वर्चस्व एवं पूँजी केंद्रित संस्कृति है। वर्तमान संदर्भ में अपसंस्कृति का बोलबाला है। वह विराट संस्कृति का आकार ग्रहण करके लघु संस्कृतियों पर हमला कर देती है। इसके लिए वह लघु संस्कृतियों को 'असभ्य' एवं 'अविकसित' घोषित कर देती है। उसे 'सभ्य' बनाने के नाम पर उसको नष्ट कराने की भी कोशिश करती है।

महाश्वेता देवी के अनुसार “वैश्वीकरण ने आदिवासी जीवन को प्रभावित करना शुरू किया है। विकास के नाम पर उनका विस्थापन हो रहा है। हर कालखंड में आदिवासियों ने अपनी संस्कृति को बचाकर रखा है। अब उनकी संस्कृति पर भी हमला बोला जा रहा है। उनकी सदियों की आजमाई जीवन शैली को बदला जा रहा है। उन्हें ‘सभ्य’ बनाया जा रहा है। यह कतई वांछित नहीं है।”[1] लघु संस्कृतियों का यह सरलीकरण वास्तव में लघु मानव का सरलीकरण है। कहानी इस समस्या को गंभीरता से देखती है। इसके प्रतिरोध करने के लिए वह तिरस्कृत लघु संस्कृति के गुणों को सामने ले आती है। बटरोही की ‘हिडिम्बा के गाँव में’ शीर्षक कहानी में कुंथी नामक एक साठ-पैंसठ वर्ष की पहाड़ी आदिवासी स्त्री है। अपनी जवानी में गाँव की सुन्दर लड़की थी। किसी आदिवासी युवक के साथ उसकी शादी तय होती है। लेकिन शादी के पहले पता चल जाता है कि नैनिताल से आये किसी से उसका संबंध है और वह गर्भवती है। गाँववाले उसे मारते-मारते घायल हालात में नदी में डाल देते हैं। वह बच निकलती है। उसके बाद वह नदी से मछलियाँ मारकर, फलों और बूटियों से किसी तरह अपने को जिंदा रखती है। जब प्रस्तोता पात्र उस पहाड़ी जंगली इलाके में गुज़रता है तो उसकी मुलाकात कुंथी से होती है। कुंथी को जब यह पता चलता है कि वह नैनिताल से है तो वह उनसे मिलने के लिए आतुर होती है। खाना खाने का विनम्र निवेदन करती है। वह कहती है - “अपने ही घर से आये हो तुम लोग।

---

1. महाश्वेता देवी से कृपाशंकर चौबे की बातचीत प्रतिरोधों और जनसंघर्षों में धारावाहिकता है, समयांतर, फरवरी 2008, पृ. 87

बिना खाए-पिए जाओगे तो पाप हमारे सिर चढ़ेगा। उनको तो तुम जानने ही वाले ठहरे, नैनिताल के ही तो हुए वो भी" बगल में खडे अपने बेटे से प्रणाम करने को कहा उसने, "कौन?" किसकी बात कह रही हो? खोपडी ने पूछा, 'वही, इसके बाबू.....' बडे संकोच के साथ बोल पाई वह। 'क्या नाम है उनका?' 'इसका बाबू तो बता रही हूँ....' सहज आत्मीयता के साथ कुंथी बोली, "नैनिताल से ही तो आए थे। आप लोग पहचानते ही होंगे। चालीस बरस हो गए अब तो.... ससुराल से आए हो। बिना खाए कैसे जाने दूँगी.....?"[1] कुंथी अपने को छोड़कर जानेवाले आदमी से अब भी नफरत नहीं करती। वह इसलिए कि कुंथी के मन में मानवीय संबंधों को लेकर अब भी अटूट विश्वास है। विश्वास का यह आत्मभाव इंसानियत का सबसे नाजुक अंश है। इंसानियत का यह नाजुक अंश अब.अत्यंत विरल है। अपसंस्कृति द्वारा संचालित सभ्य नागरिक इनके शोषण के लिए इस नाज़ुक अंश का बखूबी इस्तेमाल करता है। यह देखकर कई सामाजिक कार्यकर्ता इस निष्कलंकता को लघु समाज की खूबी नहीं कमज़ोरी मान बैठते हैं। कहानी उनकी निष्कलंकता के आगे प्रश्न खड़ा नहीं करती। वह शोषण करनेवाले 'सभ्य' नागरिकों की 'सभ्यता' को अनुचित ठहरा देती है। इसप्रकार जीवन मूल्यों को भूलकर किये जानेवाले नागरिकों के कृत्रिम विकास के दावे को नकारकर उसे ही असभ्य एवं अविकसित घोषित कर देती है। कहानी विकास की गलत दिशा का संकेत देती है। 'सभ्य' नागरिकों का विकास मुख्यतः धन केंद्रित

---

1. बटरोही - हिडिम्बा के गाँव में, 2002, पृ. 23

है मानव केंद्रित नहीं। विकास के सही मानकों के संदर्भ में श्यामाचरण दुबे का यह कथन उल्लेखनीय है "सर्वविदित है कि केवल आर्थिक सम्पन्नता समाज के लिए कभी भी उपयुक्त लक्ष्य नहीं हो सकती। समाज में धन की अनेक भूमिकाएँ हैं, परन्तु धन अपने-आप में जीवन की गुणवत्ता का सूचक नहीं होता। सामाजिक लक्ष्य को ध्यान में रखे बिना धन के पीछे बेतहाशा दौड़ने का परिणाम होगा भद्दा सुखवाद और संस्कृति का ह्रास। इस प्रकार की विचारधारा से व्यवस्था के लिए गंभीर संकट उत्पन्न हो सकता है और अच्छी व्यवस्था के बिना विकास सम्भव नहीं है। केवल धनार्जन को उद्देश्य मानकर चलनेवाली विकास की प्रक्रिया से तनाव बढ़ते हैं, लाभों का वितरण गलत ढंग से होता है और परिणामस्वरूप विसंगतियाँ और टकराव उत्पन्न होते हैं।"[1] एक स्वस्थ समाज के लिए विकास के मनुष्यविरोधी रूप को रोकना ज़रूरी है। अतः कहानी यहाँ लघु संस्कृति की गुणवत्ता को दर्शाकर विकास के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की माँग करती है।

विकास का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण अपसंस्कृति द्वारा संचालित सत्ता से ठोस संघर्ष किये बिना संभव नहीं है। सत्ता के खिलाफ के संघर्ष को कहानी वैचारिक सहयोग का धरातल प्रदान करती है। इसके लिए कहानी स्वत्व संपन्न आदमी के आत्मगौरव को एक जीवनी शक्ति के रूप में विकसित करा देती है। यह आत्मगौरव उसे संघर्ष करने की ताकत प्रदान करता है। संजीव की 'आरोहण' में भूप एक पहाडी आदमी है। वह

---

1. श्यामाचरण दुबे - परम्परा और परिवर्तन, 2001, पृ. 31

जिंदा रहने के वास्ते हिमांग के सबसे साबुत ऊँचे हिस्से पर जान पर खेलकर चढ़कर, वहाँ घर बसाता है। खून जम जानेवाली जाड़े में भी मेहनत करके खेती शुरू कर देता है। भूप वह जगह छोड़ आने के लिए तैयार नहीं है। वह जानता है कि नीचे आने का मतलब है सरकार के रहम का इंतज़ार करना या भूखा मरना। वह सत्ता की बेरहमी से खूब वाकिफ है। बिना कोई आधुनिक उपकरण के, उसे जिंदा रहने के वास्ते सिर्फ पेड़ों-पत्थरों की नाम मात्र की सपोर्ट पर शरीर का संतुलन बनाये हुए पहाड़ पर चढ़ना पड़ता है। लेकिन सरकार इन बेबस लोगों के प्रति उदासीन है। शौक के लिए पर्वत पर चढ़नेवालों के लिए सरकार पर्वतारोहण संस्थाएं खोलती है। वहाँ काम करनेवालों को अच्छी रकम तनख्वाह भी देती है। कहानी का एक प्रसंग देखिए, "एक बूढे के पूछने पर रूपसिंह बताता है कि वह पर्वतारोहण संस्थान में काम कर रहा है। 'वो क्या चीज़ च?" तिरलोक ने जानना चाहा, 'पहाड़ पर चढ़ना', 'के वास्तां (किसलिए)?' गड़बड़ा गया रूप उनकी इस जिरह पर, 'बाबा, वो कोई छोटा-मोटा काम नई। सरकार इसी के लिए चार हज़ार तनखा देती है हमें।' 'ल्या सुण ल्या एकइ बात', तिरलोक बूढे ने सबको सुनाकर कहा, 'यह कहता है कि यक रूप सिंह छै। चलो मान लिया। लेकिण फिर बोलूँ छै कि सरकार याको सिर्फ भ्याल चढ़न कूं वास्ते चार हज़ार तणखा देवे छूं। यक क्या बात हुई? कैसी अहमक है यक सरकार भी।"[1] सरकार का यह रवैया स्वत्व संपन्न नागरिक की अवहेलना है। इसलिए भूप नीचे आकर सत्ता की रहम

1. संजीव आरोहण, 2006, पृ. 124

का इंतज़ार करने से ज्यादा उस पहाड़ पर जान को जोखिम में डालकर रहना अधिक पसंद करता है। वह कहता है - "भौत इंसाफ किया तुम सबी ने मेरे साथ-भौत। अब माफ करो भुइला। मेरी खुद्दारी को बखस दो। अब तो जिंदा रहणे तक न ई बल्द उतर सकदिन, न हम।"[1] यहाँ संघर्ष के रास्ते को अपनाकर वह सत्ता के खिलाफ अपना विद्रोह दर्ज करता है। इस संदर्भ में दर्ज लघु समाज का आत्मगौरव विश्लेषण योग्य है। यहाँ लघु समाज के आत्मगौरव को उसके व्यक्तित्व की खूबी के रूप में दर्ज करके उसे महिमा मंडित करना कहानी का उद्देश्य नहीं है। लघु समाज के आत्मगौरव को यहाँ शोषण के एक विस्तृत तंत्र के अधीन दिखाया गया है। जिंदा रहने के लिए मौत से जंग करने के लिए तैयार निकलनेवाले भूप के ज़रिए कहानी जनतांत्रिक व्यवस्था को एक मिथ घोषित कर देती है। भूप का संघर्ष यह स्पष्ट घोषित कर देता है कि जनतंत्र व्यवस्था से ज्यादा पहाड ज्यादा विश्वसनीय है। आत्मगौरव का यह साहसी रूप लघु समाज के संघर्ष को ताकत प्रदान करता है।

लघु समाज संस्कृति के गतिशील पक्षों से प्रतिरोध का हथियार चुनते हैं। अपसंस्कृति अपने अस्तित्व के लिए सांस्कृतिक माहौलों को नष्ट कराने की कोशिश करती है। इसके लिए वह आपसी द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा आदि विकृतबोधों को बढ़ावा देती है। ये विकृतबोध हमारी सांस्कृतिक गतिशीलता को नष्ट करा देता है। कहानी हमारे सांस्कृतिक माहौल को नष्ट करानेवाले विकृतबोधों का प्रतिरोध करती है। इसके लिए वह

1. संजीव - आरोहण, 2006, पृ. 138

अपसंस्कृति के विकृतबोधों से युक्त माहौल को ही माध्यम बनाती है। विवेकी राय की 'कहाँ बचकर जाओगी' कहानी में सिरपत अपने दो बेटे और पत्नी के साथ वर्षों बाद होली मनाने बड़ी उमंग के साथ शहर से गाँव आता है। गाँव आकर वे लोग पाते हैं कि जहाँ खरपतवार, उपले, लकड़ियों और पुआल आदि के ढेर लग जाने चाहिए थे वहाँ होली जलने के स्थान पर एक तिनका भी नहीं है। बाद में सिरपत को मालूम होता है कि सभापति के चुनाव को लेकर गाँव के भीतर अंतर्विरोध इतना बढ़ गया था कि बसंत पंचमी के दिन वहाँ कोई नहीं पहुँचा। सभ लोग एक दूसरे से जलते हैं, शंकित हैं और खार खाए बैठे हैं। यह जानकर सिरपत निराश होता है। वह कल्पना में होली मनाने की तरीखों के बारे में सोचने लगता है। वह इसप्रकार है "पैसे फेंककर बिसरमवा के आगे ढोल-डफों को मोची के पास जाकर मढ़ा लाओ। नशा पानी के लिए अलग। फिर कहो अऱे, आओ, इस सारी जलन को होलिका की पवित्र आग में जलाकर गले से गले लग जाएँ। नई गजी, एक चारमीनार का डिब्बा और छोटी इत्र की शीशी भीमल सरदार को उपहार के रूप में दें। फिर कहो चीनी, भाँग, बादाम सब ले आओ। पूरे चार दिन का खर्च कितना लगेगा। फिर कहो तुम्हारे कंठ से कढ़ा वह होली - पद कितना अच्छा लगता है 'वृज में हरि होरी मचाई।' फिर उपसभापति को कलकत्तेवाली एक खास बीड़ी जलाकर आगे बढ़ाते हुए बोलना है 'वह दक्षिण टोलवाला सभापतिया चुपके-चुपके गोल-पार्टी सहेजकर, ढोल-झाँझ जुटाकर तथा अचानक गाने-बजाने का ज़ोरदार प्रदर्शन कर आपको झुकाना चाहते हैं। आपके हाथों ढोलक बमबमा उठता है तो उसके आगे भला कौन है जो

टिकता है। मैं तैयार हूँ। आप गाते हैं 'खेलें होली बिच कैलास, भोला-पारबती।"[1] अपनी कल्पना में वह लोगों को पैसे का लालच देकर, कई उपहार देकर, प्रतिस्पर्धा को जगाकर एक सांस्कृतिक माहौल तैयार करता है। जिन विकृतबोधों ने इस सांस्कृतिक माहौल को नष्ट किया था वह उसी का इस्तेमाल करके नष्टप्राय सांस्कृतिक माहौल की पुनर्स्थापना करना चाहता है। होली उसके लिए प्रतिस्पर्धा और लालच से परे जानेवाले सामाजिक मन का सोल्लास है। उसे विश्वास है कि होली के इस सामाजिक माहौल बनते ही उसका आधार बना विकृतबोध इसमें विलीन होकर नष्ट हो जायेगा। नष्टप्राय सामाजिक मन का सोल्लास अब भी उसकी स्मृतियों में सुरक्षित है। स्मृति में सुरक्षित इस सांस्कृतिक माहौल को कहानी कल्पना के ज़रिए पुनर्सृजित करती है। इसप्रकार कहानी अतीत से प्रतिरोध के लिए हथियार ग्रहण करके वर्तमान विकृतबोध को नष्ट करा देती है।

जिसप्रकार अपसंस्कृति द्वारा संचालित सत्ता का एक प्रत्यक्ष अमानवीय रूप है उसीप्रकार उसका एक छद्म मानवीय रूप भी है। यह छद्म मानवीय रूप व्यक्ति को अपने यथार्थों से, अनुभवों से विस्थापित कर देता है। फलतः व्यक्ति सत्ता द्वारा निर्मित छवि के शिकंजे में पड़ जाता है। सत्ता द्वारा निर्मित इन छवियों के शिकस्त में पड़कर व्यक्ति जड़ से उखडे पौधे की तरह सूखकर नष्ट होता है। पंकज विष्ट की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' कहानी में संपन्नता की छवि को बनाये रखने के लिए

---

1. विवेकीराय - सर्कस (सं), कहाँ बचकर जाओगी, पृ. 2005, पृ. 46

अपनी जान तक गवानेवाले एक आदमी का चित्रण है। इसमें बिशनदत्त किश्त में टी.वी खरीदता है। किश्त भरने के बोझ के कारण वह ठीक से अपनी बीमारी का इलाज़ तक नहीं कर पाता। अंत में बीमारी के कारण वह मर जाता है। व्यक्ति के अस्तित्व को मिटानेवाली अपसंस्कृति द्वारा निर्मित संपन्नता की छवि बिल्कुल ही अमानवीय है। इसकी भीषणता का स्पष्ट अंकन ही कहानी का प्रतिरोध है। इसके लिए कहानी बिशनदत्त का बेटा रघुवा के ज़रिए एक भ्रम को सृजित करती है। रघुवा टी.वी में एक विदेशी कार में से उतरते आदमी को देखता है। वह आदमी कोट की जेब से रिवाल्वर निकालता है और गोली चलाता है। टी.वी का पर्दा विभिन्न रंगों व डिजाइनों से भर जाता है। तब भयानक कराह सुनायी पड़ता है और वह पाता है कि उसके पिता बिशनदत्त फर्श पर औंधे मुँह पड़ा है। खून रसोई तक बह रहा था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह कैसे हो सकता है? लेकिन उसने अपनी आँखों से गोली को चलते हुए देखा था। यहाँ बच्चे का भ्रम एक मासूमियत मात्र नहीं है। यह फैंटसी अमानवीय मिथ को तोड़ने के लिए कहानी द्वारा प्रयुक्त विकल्प है। टी.वी में गोली का चलना और आदमी का मरना एक प्रत्यक्ष यथार्थ नहीं है। पर यह सत्ता द्वारा निर्मित एक अप्रकट व्यापक वर्तमान सच है। यह कर्ज का सच है, बाज़ार का सच है, साम्राज्यवाद का सच है। इसतरह कहानी आमआदमी को नष्ट करानेवाली सत्ता की छद्म मानवीयता के मुखौटे को उतार देती है।

संक्षेप में समकालीन कहानी में दर्ज लघु समाज प्रतिरोध के आयामों को सामने ले आता है। कभी संघर्ष के ज़रिए, कभी अपनी

संस्कृति की गरिमा के ज़रिए, कभी यथार्थ के स्पष्ट अंकन के ज़रिए। यहाँ प्रतिरोध मात्र प्रकट विद्रोह नहीं है, बल्कि यह कहानी द्वारा प्रक्षेपित संवेदना भी है।

लघु समाज का प्रतिरोध

स्त्री प्रतिरोध

अपसंस्कृति हमेशा वर्चस्व को पनाह देती है। वर्चस्व केंद्रित संस्कृति में कमज़ोर का स्वत्व विलोपन निश्चित है। स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक सब इस स्वत्व विलोपन के शिकार हैं। वे एक असुरक्षित परिवेश में जीने के लिए अभिशप्त हैं। समकालीन कहानी इस अभिशप्त अवस्था को रेखांकित करती है, साथ ही साथ उसके खिलाफ के रचनात्मक प्रतिरोध को भी दर्ज करती है। कहानी में यह प्रतिरोध मुख्यतः दो रूपों में प्रकट होते हैं। एक अमानवीय स्थितियों के प्रति प्रत्यक्ष विद्रोह बनकर और दूसरा उन स्थितियों के कलात्मक अंकन से उत्पन्न चेतना एवं अवबोध बनकर। दूसरी तरह की कहानियों में प्रतिरोध प्रत्यक्षतः प्रकट नहीं है फिर भी यह प्रतिरोध का एक सशक्त सूचक है।

अमानवीय व्यवस्था के प्रतिरोध में लिखी गयी कहानियाँ वर्चस्व केंद्रित सामाजिक व्यवस्था की मान्यताओं को नकारती हैं। इस प्रकरण में स्त्री प्रतिरोधी कहानियों का उल्लेख बहुत ही प्रासंगिक है। क्योंकि हमारे समाज में स्त्री हमेशा पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा परिभाषित होती है। पुरुषसत्ता स्त्री को कभी भी अपने स्वत्व में प्रकट होने नहीं देती। स्त्री प्रतिरोधी कहानियाँ इस विसंगति के प्रति सक्रिय प्रतिरोध व्यक्त करती हैं।

पुरुषवर्चस्व द्‌वारा गढ़ित मान्यताओं से स्त्री को बाहर निकालकर उसके स्वत्व को विकसित कराना इन कहानियों का मकसद है। इसके लिए वह स्त्री की अधीनस्थ स्थितियों को सामने ले आती है। पारिवारिक जीवन स्त्री प्रतिरोधी कहानियों का मुख्य रचना क्षेत्र है। क्योंकि स्त्री स्वत्व के निराकरण का प्रखर रूप परिवार में देख सकते हैं। परिवार पुरुषसत्ता को बनाये रखनेवाली संस्था है। वहाँ सिर्फ पुरुष की इच्छाओं को मान्यता मिलती है। परिवार में पुरुष स्त्री के निजी से निजी मामले में भी बेहिचक दखल देता है। क्योंकि वह स्त्री को स्वत्व से युक्त इंसान नहीं मानता। इसलिए स्त्री की छोटी सी छोटी इच्छाएं तक भी पुरुष की अधिकार दृष्टि से आंके बिना बच नहीं पाती। कविता की 'मेरी नाप के कपड़े' पुरुष द्वारा किये जानेवाले इस अनावश्यक हस्तक्षेप का प्रतिरोध करती है। इसमें कल्पना गृहस्थी के खर्च से बचाकर थोड़ा पैसा इकट्‌ठा करती है और अपनी पसंद के कुछ कपड़े खरीदती है। लेकिन उसके पति को यह बात पसंद नहीं आती। वह उसे कोसने लगता है। पति सिर्फ यही चाहता है कि पत्नि सिर्फ उसके साथ चलकर उसकी पसंद के कपड़े खरीदें। लेकिन कल्पना अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं को पति के स्वार्थ के आगे कुर्बान करने के लिए तैयार नहीं होती। वह कहती है "तुम कुछ भी उठा लाओ और मैं उसे पहनने को मज़बूर होऊँ। अगर साथ ही हम जाएँ तो पसंद तो तुम्हारी ही चलेगी न? और फिर न मानूँ तो मुँह भी फुला लोगे। तिस पर तुम्हें आहत करने का अपराधबोध अलग।"[1] यहाँ कल्पना की छोटी

---

1 कविता मेरी नाप के कपड़े, हंस, फरवरी 2004, पृ. 52

सी इच्छापूर्ती उसकी आज़ादी ही है। वह हर हाल में अपनी आज़ादी को कुर्बान करने के लिए तैयार नहीं है। यहाँ कल्पना की इच्छापूर्ती की लड़ाई वास्तव में पुरुष द्वारा स्त्री के लिए निर्मित दायरे में न ढलने की लड़ाई है। बरसों से स्त्री की इच्छाएँ पुरुषसत्ता द्वारा निर्मित दायरे के भीतर घुटती रही हैं। कहानी बरसों से दमित इन इच्छाओं को उभारकर स्त्री को परंपरागत रूढ़िगत व्यवस्था से बाहर ले आती है। यहाँ स्त्री सिर्फ अपनी नाप के कपड़े पहनती है यानि अपनी दृष्टि से जीवन जीती है। ध्यान देने की बात यह है कि यह दृष्टि कभी भी पुरुष विरोधी नहीं बल्कि पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था विरोधी है।

पुरुषसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था को सुदृढ़ करनेवाली एक संविदा है विवाह। विवाह मात्र पुरुष के लिए फायदेमंद संविदा है। क्योंकि इसका आधार अक्सर स्त्री-पुरुष के बीच का आपसी प्रेम नहीं बल्कि आर्थिक शोषण है। वहाँ पुरुष स्त्री को आर्थिक तुले पर तौलकर पसंद करता है। समाज स्त्री व्यक्तित्व के इस खुले अपमान को अस्वाभाविक तक नहीं मानता। अखिलेश की 'घाल-मेल' कहानी समाज के इस विकृत बोध पर करारा व्यंग्य है। इसमें गीता एक निम्न मध्यवर्गीय आदमी की पाँचवीं बेटी है। वह सुशील से - जो एक क्लार्क का पुत्र है - प्रेम करती है। सुशील भी उससे प्रेम करता था। लेकिन जब सुशील का परिचय इंजीनियर की पुत्री अमृता से होता है तब वह गीता को छोड़कर अमृता से प्रेम करने लगता है। लेकिन अमृता सुशील को धोखा देकर एक डाक्टर से शादी करती है। तब सुशील पुनः गीता के आगे प्रेम का प्रस्ताव रखता

है। लेकिन गीता प्रेम के इस आर्थिक दाँवपेंच को भली-भाँति समझती है। वह सुशील को जवाब में लिखती है - "हम पाँच बहनें हैं और हमारे पिता के पास पैसे नहीं हैं। अगर तुम दहेज न लो, तो मैं तुम्हारे साथ शादी कर सकती हूँ, लेकिन प्रेम नहीं। तुम प्रेम के काबिल नहीं। सच कहूँ, तो घृणा के पात्र हो। हाँ, शादी करनी हो, तो बताना।"[1] यह पत्र विवाह और प्रेम के संदर्भ में खेले जानेवाले तिकड़म पर किया गया करारा व्यंग्य है। विवाह के मण्डप में स्त्री एक बिकाऊ चीज़ है पर उसका प्रेम नहीं। स्त्री का प्रेम बिकाऊ नहीं है। तब प्रेम के बिना विवाह एक वस्तु व्यापार या देह व्यापार मात्र बन जाता है। यहाँ पुरुषसत्ता द्‌वारा निर्मित विवाह संबंध की 'पवित्रता' का मुखौटा उतर जाता है।

जहाँ पारिवारिक संस्था और विवाह संविदा पुरुषसत्तात्मक हो वहाँ दाम्पत्य जीवन में समतापरक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। विवाह के बाद पुरष की सेवा करना, उसकी इच्छाओं की पूर्ति करना और उसके द्‌वारा निर्मित 'पत्नीत्व' की रक्षा करना स्त्री का कर्तव्य माना जाता है। यहाँ स्त्री की भूमिका एक गुलाम से भिन्न नहीं है। जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार - "आधुनिक विश्व में वैवाहिक संबंधों में स्त्री को दोयम दर्जे की स्थिति दूसरे तमाम आधुनिक विचारों के साथ मेल नहीं खाती। नीग्रो गुलामी का अध्याय बन्द होने के बाद यही एक संस्था रह गई है, जहाँ एक इंसान को दूसरे इंसान की मनमानी इच्छाओं के अनुसार जीना पड़ता है। और समाज यह मान कर कि अधिकार प्राप्त व्यक्ति अपने अधिकारों का

---

1 अखिलेश मुक्ति (सं), घाल-मेल, 2005, पृ. 38

इस्तेमाल सिर्फ दूसरे के भले और कल्याण के लिए करेगा, तमाम ज्यादतियों से आँखें मूंदे बैठा है। विवाह इकलौती ऐसी सामाजिक व्यवस्था रह गई है, जिसे कई मामलों में बंधक-व्यवस्था कहा जा सकता है। हर घर की गृहिणी के अलावा अब कोई गुलाम नहीं बचा है।"[1] अतः दाम्पत्य जीवन में स्त्री के अधिकारों के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर भी स्त्री इस गुलामी की जिंदगी को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होती। क्योंकि पुरुषसत्ता ने इस गुलामी को आदर्शात्मकता का जामा पहनाया है। जो पत्नीत्व के इस आदर्शात्मकता को नकारती है उसे घोर सामाजिक अवहेलना का सामना करना पड़ता है। इसलिए ज्यादात्तर स्त्रियाँ अपने व्यक्तित्व को, अपने आत्मसम्मान को दबाकर समाज द्वारा प्रदत्त 'सम्मान' को स्वीकार करती हैं। ऋता शुक्ल की 'छुटकारा' कहानी में कमली नामक एक दलित स्त्री का विवाह बसंतू मिसिर नामक उच्चजाति के एक अमीर व्यक्ति से होता है। बसंतू मिसिर की पहली पत्नी कनिया बसंतू मिसिर की लात, मार को चुपचाप सहनेवाली है। बसंतू मिसिर कमली से शादी करके उसके ज़रिए दलित जाति के लोगों का वोट प्राप्त करता है और चुनाव जीतता है। जीतने के बाद वह कमली को घर से निकाल देता है। बाद में बसंतू मिसिर राजकिशोर नामक राजनीतिज्ञ से राजनीति का पाठ सीखकर कमली को लेने आता है। पर कमली पत्नीत्व के आदर्श में पड़कर एक बार फिर पुरुषसत्ता के हाथ का मोहरा बनने के लिए तैयार नहीं होती। स्त्री को जलील करनेवाली विवाह व्यवस्था को वह हिम्मत के साथ तोड़

1. जॉन स्टुअर्ट मिल (रूपांतर-युगांक धीर) - एक सहज, स्वतंत्र स्त्री का जन्म (लेख), वागर्थ, फरवरी 2002, पृ. 98-99

देती है। वह कहती है - "हमें तुम्हारे खेल का मोहरा बनने से इनकार है, मिसिर जी! अब तुम्हारी कोई भी चाल हमें बहका नहीं सकती। तुम्हारे साथ जुड़कर हमारी कोई पहचान बने, इस सपने को हमने कब का कुचल दिया, मिसिर.... टुकुर-टुकुर क्या ताकते हो? हम कनिया भउजी नहीं है। तुम्हारी कानी अंगुरी के इशारे पर नाचते हुए बंगले की उमरकैद भुगतने से बिलास काका की मडई में रहकर जिनगी को काट देना हमारे लिए अच्छा है। हमारे नाम का व्यापार करके तुम ऊपर उठो, हम तुम्हें इसकी इज़ाजत नहीं देंगे, बसंतू मिसिर, कतई नहीं।"[1] यहाँ कहानी पति द्वारा पत्नी पर एकाधिकार स्थापित करनेवाली दाम्पत्य व्यवस्था को नकारती है। दाम्पत्य के बाहर भी स्त्री का अस्तित्व है। दाम्पत्य के दायरे से बाहर निकलनेवाली स्त्री, दाम्पत्य के भीतर 'पत्नीत्व' को बनाये रखने के लिए घुटनेवाली स्त्री से कहीं ज्यादा सम्मान के अधिकारिणी है। उस स्वाभिमानी स्त्री व्यक्तित्व के आगे पुरुषसत्ता द्वारा पत्नीत्व के लिए प्रदत्त 'सम्मान' टिक नहीं सकता।

समकालीन कहानी ने दाम्पत्य व्यवस्था को प्रत्यक्षतः नकारे बिना, उसके भीतर रहकर पुरुष के वर्चस्व का प्रतिरोध करनेवाले पात्रों का सृजन किया है। मृदुला गर्ग की 'वितृष्णा' कहानी में दिनेश और शालिनी पति-पत्नी हैं। उन लोगों का एकलौता बेटा अमेरिका में है। जवानी के दिनों में दिनेश व्यस्त था। शालिनी से बातें करने तक का समय

---

1. गिरिराज शरण (सं) - ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, ऋता शुक्ल - छुटकारा, 2002 पृ. 39

न था। पर शालिनी उससे बहुत बातें करना चाहती थी। अब दिनेश रिटायर हो गया। पर शालिनी दिनेश से बिल्कुल बात नहीं करती। उसकी तरफ देखती तक भी नहीं। दिनेश इस संबंध में सोचता है - "बीस साल पहले तुम्हें इतना कुछ कहना था, उसका क्या हुआ? कहाँ खो गये वे शब्द! बिना कहे तुम्हारा मन कैसे भर गया? तब मैं कितना व्यस्त था। तुमने मुझसे पूछा था, आपके पास घंटे भर की फुर्सत नहीं है कि बैठ कर बात कर सकें तो मैं ने कहा था, बात करने की फुरसत उन्हें होती है जिनके पास काम नहीं होता। अगर तुम घर को पूरे सलीके से चलाओ तो तुम्हारे पास भी चखचख करने को वक्त न बचे.... तुम समझती क्यों नहीं, शालिनी, तब मेरे पास वक्त नहीं था।"[1] लेकिन अब भी शालिनी घर को सलीके से चलाती है। बस दिनेश से बातें नहीं करती। जिस आदमी ने उसे जिन्दगी भर घर चलाने का यंत्र मात्र माना हो, उस आदमी से आत्मीयता का संबंध रखने के लिए शालिनी तैयार नहीं है। शालिनी का मौन सशक्त विद्रोह है। उसके मौन से उत्पन्न घुटन का एहसास पूरी कहानी में व्याप्त केंद्रीय अनुभव है। यह अनुभव बीस साल पहले पुरुषसत्ता द्‌वारा स्त्री को दिया गया अनुभव है। अब वह उसी अनुभव को स्त्री के वस्तूकरण के खिलाफ खड़ी कर देती है। इसलिए यहाँ स्त्री की वितृष्णा का उपाय मौन होकर भी मुखर है।

'पत्नीत्व' की तरह पुरुषसत्ता द्‌वारा स्त्री शोषण के लिए गढ़ित एक अन्य आदर्श है मातृत्व। जहाँ मातृत्व के नाम पर स्त्री को अपनी

---

1. मृदुला गर्ग संगति - विसंगति (संपूर्ण कहानियाँ-2), वितृष्णा, 2004, पृ. 400

इच्छाओं और आकांक्षाओं को जिंदगी भर दबाना पड़ता हो, जहाँ बुढ़ापे तक में भी तनहाई और लाचारी के अलावा कुछ न बचा हो, वहाँ मातृत्व स्त्री के लिए सार्थकता नहीं है। मृदुला गर्ग के अनुसार "शिशु जन्म नैसर्गिक न रहकर, सामाजिक कर्म बन गया। पहरेदारी पर पुरुष सत्ता बैठ गई। स्त्री की परिपूर्णता, श्रेष्ठता, सफलता, उसके 'अच्छी माँ' बनने से आँकी जाने लगी। हज़ारों उपलब्धियों के होने पर भी उन उपलब्धियों को सामाजिक सम्मान मिलने पर भी, हर स्त्री का 'अच्छी माँ' होना अनिवार्य है। 'अच्छी' की परिभाषा भी सामूहिक और खासे गैर-लचीले, अंदाज़ में तय की जाती रही।"[1] स्त्री के लिए निर्मित 'अच्छी माँ' छवि का बंधन उसे मृत्यु तक एक इंसान की हैसियत से जीने नहीं देती। मातृत्व के इस बंधन का प्रतिरोध कविता की 'अलटबांसी' कहानी में चित्रित है। इसमें एक बूढ़ी विधवा माँ है। उस विधवा माँ के बच्चे अब उनसे दूर रहते हैं। बच्चे उनके लिए नौकर रखते हैं, पैसे देते हैं और तरह-तरह की चीज़ों से घर भरते हैं। पर बुढ़ापे में माँ के अकेलेपन को बाँटने के लिए उनके पास कोई नहीं है। जिंदगी भर माँ ने अपने लिए कुछ नहीं किया था। जो कुछ भी किया था वह परिवारवालों के लिए था। अब उनके बुढ़ापे का चित्र इस प्रकार है - "लंगडाते - लंगडाते भी बरस पर बरस बीत रहे थे, आँखों की परेशानी भी ज्यादा बढ़ने लगी थी पर हम भाई - बहनों ने इन बातों की परवाह छोड़ दी थी। हमने उनके इस बदले रूप को उनके

---

1. राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा (सं) - अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, मृदुला गर्ग प्रज्ञा और गर्भाशय के बीच (लेख), 2001, पृ. 273

व्यक्तित्व का हिस्सा ही मान लिया था।"[1] यह 'मातृत्व' के लिए समर्पित स्त्री की दारुण परिणति है। जगहें देखना, स्वादिष्ट भोजन खाना, रंगीन कपडे पहनना सब माँ को पसंद है। पर सामाजिक रूढ़ियों ने उस विधवा माँ को इन सबसे दूर रखा है। अंत में माँ सामाजिक रूढ़ियों के लिए, बच्चों के मान रखने के लिए स्वयं को न दबाने का निर्णय लेती है और दूसरी शादी करती है। दूसरी शादी होने पर 'अच्छी माँ' न बने रहने का अपराध बोध उन्हें नहीं सताती। वे उस छवि के बंधन से अच्छी तरह वाकिफ है। उनका यह निर्णय यह घोषित करती है कि परंपराएँ इंसान के लिए हैं। परंपराएँ जब इंसान को नष्ट करने लगती हैं तब उन्हें छोड़ना चाहिए। स्त्री जो हर काल और हर वक्त परंपराओं के लिए नष्ट होती रहती है उसके संदर्भ में यह बात बहुत ही प्रासंगिक है।

पुरुषसत्ता स्त्री की सामाजिक भूमिका को परिवार, वंश और विवाह तक सीमित करने में तत्पर है। इसलिए वह स्त्री के जीवन को हमेशा पुरुष केन्द्रित दृष्टि से व्याख्यायित करता है। यह एक ऐसी धारणा को जन्म देती है कि स्त्री का जीवन बेटी, पत्नी और माँ बनकर ही सार्थक बन सकता है। फलतः जब स्त्री बेटी, पत्नी और माँ की भूमिका से वंचित होती है तब समाज उस स्त्री के जीवन को निरर्थक समझ बैठता है। समाज ऐसी स्त्रियों को अक्सर सहानुभूति की दृष्टि से देखता है। समाज की यह सहानुभूति स्त्री जीवन की पुरुष केंद्रित व्याख्या को समर्थन देती है। यहीं नहीं यह दृष्टि पुरुष की छत्रच्छाया से परे स्त्री को, स्त्री जीवन

---

1. कविता उलटबासी, हंस, दिसम्बर, 2005, पृ. 43

की संभावनाओं को नकारती है। अरुण प्रकाश की 'ना' कहानी पुरुषाधिष्ठित मूल्यों से संचालित समाज की इस धारणा का प्रतिरोध करती है। इसमें पन्द्रह वर्षीय सविता की शादी चालीस वर्ष के अशिक्षित गरीब श्यामकुमार से होती है। यह एक गरीब स्त्री के जीवन को पुरुष से जोड़कर सार्थक बनाने का सामाजिक उपक्रम था। शादी के बाद वह पाँच बच्चों की माँ बनती है। बाद में कलाजार से उसका पति श्यामसुंदर का निधन होता है और बाईस साल में ही सविता विधवा बनती है। प्रस्तोता पात्र सविता का पडोसी है। वह गाँव से दूर रहता है। पहले उसकी माँ, खेती-बाडी सब देखती थी। जब प्रस्तोता पात्र की माँ की तबीयत बहुत खराब होती है तब वह खेती-बाडी और माँ को संभालने का काम सविता को (जिसे वह सुन्दरी मामी कहता है) देने का निर्णय करता है। उसने यह निर्णय सविता को सहारा देने के उद्देश्य से ही लिया था। उसका यह प्रस्ताव सुनकर सविता कहती है "मैं यह नहीं कर पाऊँगी। लोग क्या कहेंगे कि पति मर गया तो पूरे परिवार को चाकरी में लगा दिया। अब मैं उन बच्चों की माँ ही नहीं बाप भी हूँ। इसलिए दुकान पर बैठने लगी हूँ। अम्मा की देखभाल तो करूँगी ही, लेकिन इसके लिए पैसा नहीं ले पाऊँगी।"[1] यहाँ सविता समाज की रहम को नकारती है। क्योंकि वह स्त्री जीवन को पुरुष तक पहुँचकर समाप्त होनेवाली वस्तु नहीं मानती। इसलिए वह विधवा होने पर अपने को निराधार मानने के लिए तैयार नहीं होती। पुरुषसत्ता द्वारा निर्मित दायरे के बाहर अपने जीवन की संभावनाओं को ढूँढती है और

---

1. अरुण प्रकाश विषण राग (सं), ना, 2003, पृ. 13-14

स्त्री जीवन को पुरुष जीवन की तरह इंसानी गरिमा प्रदान करती है। स्त्री का यह स्वाभिमानी एवं स्वावलंबी रूप स्त्री जीवन की पुरुष केंद्रित व्याख्या को खंडित करता है।

स्त्री जीवन की पुरुष केंद्रित व्याख्या स्त्री को हर तरह के समझौते के लिए बाध्य करती है। यह समझौता स्त्री को मात्र एक भोग्या का दर्जा देती है। नमिता सिंह की 'बंतो' कहानी की बंतो को उसका शराबी पिता जुए के कर्ज को चुकाने के लिए उसे शराबी गुंडा बलवीरा के साथ भेज देता है। बंतो बिना कुछ कहे अपने माता-पिता की बातों को मानती है। शराबी गुण्डा बलवीरा के साथ रहने में भी वह समझौता कर लेती है। लेकिन बलवीरा की मौत के बाद बंतो की सास बलवीरा के भाई सतवीरा से शारीरिक संबंध रखने का प्रस्ताव रखती है। बंतो की सास सोचती है कि रिश्तों की मज़बूती देह संबंधों में निहित है। इसलिए वह बंतो को अपने घर में रखने के लिए, किसी के साथ न भागने के लिए सतवीरा को भेजती है। लेकिन यहीं तक आकर बंतो के सब्र का बाँध टूट जाता है। सास के कहने पर अपने कमरे में आये सतवीरा को देखकर उसे अपना भाई मेहताब याद आती है और सतबीरा को उसकी पत्नी के पास भेज देती है। बंतो कहती है - "जा बीरन जा! तेरी लुगाई तेरा इन्तज़ार कर रई ए? मुँह के ताक रिया है मेरे भय्या। जा..... अपनी कुठडिया में.....।' बंतो को लगा जैसे आज नम्बरदार को उसने बिना भैंस खोले वापस दूर तक खदेड़ दिया।"[1] बंतो की यह समझौताविहीनता स्त्री

1. नमिता सिंह कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ (सं), बंतो, 2004, पृ. 118

प्रतिरोध के संदर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहाँ बंतो की समझौताविहीनता स्त्री-पुरुष संबंध को देह संबंध तक सीमित करनेवाली दृष्टि के प्रति की गयी प्रतिक्रिया है। यहां स्त्री, देह के बाहर मानवीय संबंधों की तलाश करती है। ऐसे संबंध स्त्री को एक भिन्न स्वत्व संपन्न सामाजिक भूमिका प्रदान करती है।

पुरुषसत्ता द्वारा स्त्री को अपने नियंत्रण में रखने के लिए प्रयुक्त एक अन्य तरकीब है नैतिकता। पुरुषसत्ता नैतिकता को स्त्री देह तक सीमित रखती है। फलतः स्त्री देह की पवित्रता नैतिकता का आधार बन जाती है। नैतिकता के नाम पर स्त्री देह की पवित्रता को दी जानेवाली वरीयता का एक अन्य परिणाम है नैतिकता के बृहत् संदर्भों का सरलीकरण। नैतिकता के इस स्त्री केंद्रीकरण के प्रति विद्रोह स्त्री की स्वतंत्रता के लिए बहुत ज़रूरी है। शैलेश मटियानी की 'दुरगुली' कहानी में दुरगुली एक दलित स्त्री है। उसका पति सबलराम उसे और उसके तीन बच्चों को छोड़कर पनुली नामक एक स्त्री के साथ रहने लगता है। पति द्वारा छोड़ दिये जाने पर उस कमजातवाली औरत से गाँव के ठाकुर हयातसिंह और चन्द्रवल्लभ पंडित बपौती करने लगते हैं। लेकिन दुरगुली अपनी इज्जत को सँभालती है। वह अपने पति सबलराम के लिए अपने देह को सुरक्षित रखती है। फलतः ठाकुर हयातसिंह और चन्द्रवल्लभ पंडित उसके प्रति और कठोर रुख अपनाते हैं। उसे काम से निकाल देते हैं। दुरुगुली के घर की हालत बहुत दयनीय बनती है। भूख से बच्चे तड़पने लगते हैं। अंत में बच्चों के खातिर वह अपनी पवित्रता के धर्म को तोड़ती है और

'अपवित्र' और 'अनैतिक' बनती है। कहानी यहाँ सवाल उठाती है कि आखिर दुरगुली की अपवित्रता में समाज की अपवित्रता का कोई योगदान नहीं है? कहानी का प्रसंग इस प्रकार है - "और तब दुरगुली चेती थी कि और दो - चार बरस पतिव्रता बनके रही तो पति तो पनुली पातर के यहाँ गया था, सो गया, मगर ये तीन बालक भी भूख से बिलबिलाते खतम हो जाएँगे।...... और तब बगैर खसम-संतान की लावारिस लट्ठ जैसी दुरगुली चाट खाएगी अपनी पतिव्रता हड्डी - बोटियों को।"[1] यहाँ स्त्री की पवित्रता मात्र देह तक सिमटकर रहनेवाली वस्तु नहीं है। यह सत्ता की पवित्रता पर पलने और नष्ट होनेवाली वस्तु है। कहानी इस सच का खुलासा करके नैतिकता के सवाल को स्त्री देह से उठाकर मानवीय अधिकारों से जोड़ती है। तब सत्ता द्वारा विवश बनकर शरीर बेचनेवाली दुरगुली जैसी स्त्री नैतिक बनती है और एक लाचार स्त्री से फायदा उठानेवाले ठाकुर हयातसिंह और चन्द्रवल्लभ पंडित जैसे सत्तासीन लोग अनैतिक बनते हैं। अतः कहानी द्वारा सृजित नैतिकता का यह बृहत् मापदंड पुरुषसत्ता को घोर अनैतिक ठहरा देता है।

पुरुषसत्तात्मक समाज में स्वस्थ स्त्री-पुरुष संबंध के लिए कोई जगह नहीं है। वहाँ स्त्री का व्यक्तित्व सदा उपेक्षित रहता है। उसे सिर्फ उपभोग वस्तु के रूप में माना जाता है। स्त्री के शरीर को उसके व्यक्तित्व से ज्यादा महत्व दिया जाता है। फलतः स्त्री का शरीर और उसकी सुन्दरता स्त्री-पुरुष संबंध का आधार बनती है। स्त्री प्रतिरोधी कहानी

---

1. शैलेश मटियानी कन्या तथा अन्य कहानियाँ (सं), दुरगुली, 2005, पृ. 23

संबंधों के इस अनौचित्य का विरोध करती है। इसके बदले वह स्त्री-पुरुष संबंध का एक अलग सौंदर्यशास्त्र विकसित करती है। संजीव की 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' कहानी में प्रस्तोता पात्र ट्रेन में एक निसहाय स्त्री से मिलता है। पुलिस उसकी सब्जियों की गट्ठर से मूली उठाती हैं। टी.टी. साहिबा उससे जबरदस्ती से दस रुपया हड़पने की कोशिश करती है। ट्रेन की अन्य सलीकेदार औरतें उसके गट्ठर में से एक मूली के गिरने पर गालियाँ देती हैं। इतने अन्यायों से गुज़रने के बाद भी वह स्त्री प्रतिक्रिया व्यक्त किये बिना रोती रहती है। तब प्रस्तोता पात्र उस स्त्री का हिम्मत बाँधता है, उसके लिए लड़ता है और उसे अपनी सीट पर बिठा देता है। इतने में उस स्त्री का चेहरा आत्मविश्वास, जिजीविषा, कृतज्ञता, स्नेह और सौहार्द से खिल उठता है। ये भाव उस स्त्री के भीतरी गुण हैं, जिसे हालातों ने कभी बाहर ही नहीं आने दिया। जब प्रस्तोता पात्र उस स्त्री के चेहरे पर इन भीतरी गुणों की चमक देखता है तो वह बहुत ही अभिभूत होता है। उसकी राय में ये गुण ही स्त्री की सुन्दरता है। इसलिए वह उस स्त्री को दुनिया की सबसे हसीन औरत मानता है। "औरत का ऐसा शबाब जो मर्द की शख़्सियत को मुकम्मल कर दें, मैं ने आज तक न देखा, न सुना। वह पल सार्थक था, सम्पूर्ण था। उसमें हम दोनों ही कायनात की ऐसी बुलन्दियों पर खडे थे कि न हमें किसी का खौफ़ था, न किसी से रंजिश।"[1] स्त्री व्यक्तित्व की गरिमा के प्रति पुरुष का आदर भाव यहाँ स्त्री-पुरुष संबंध का आधार है। यहाँ कहानी स्त्री को सतही

1. संजीव - संजीव की कथा-यात्रा दूसरा पड़ाव, दुनिया की सबसे हसीन औरत, 2008, पृ. 42

चीजों (जैसे, रूप-रंग, नाक-नक्शा, उम्र) से आँकनेवाली पुरुष दृष्टि को खंडित करती है।

संक्षेप में स्त्री प्रतिरोधी कहानियाँ स्त्री को पुरुषसत्ता द्‌वारा निर्मित मान्यताओं में ढालने से इंकार करती हैं। इसलिए ये कहानियाँ पत्नीत्व, विवाह, परिवार, मातृत्व, नारीत्व एवं नैतिकता से जुडी प्रचलित मान्यताओं के आगे प्रश्न खड़ा कर देती हैं। तब स्त्री की समस्या सिर्फ स्त्री तक न सिमटकर विशाल मानवीय संघर्ष का रूप ग्रहण करती है।

दलित प्रतिरोध

धर्म अपने व्यवहार में जातिगत प्रथाओं से युक्त एक संस्था है। धार्मिक विश्वास, आचार, आराधनालय सब इस वर्चस्व को मज़बूत करते हैं। दलित न मंदिरों में पूजा कर सकता है, न आचारों एवं अनुष्ठानों का निर्णय कर सकता है। दलित की ईश्वरीय अवधारणा तक सवर्ण द्‌वारा सृजित है। सवर्ण अपने स्वार्थ के अनुसार ही इन ईश्वरीय अवधारणाओं को गढ़ता है। सामाजिक सरोकार से इसका कोई संबंध नहीं है। वह सामाजिक समस्याओं के कारणों एवं उसके समाधानों को धार्मिक दायरे में सीमित रखता है। इसप्रकार वह दलितों को जीवन भर अपना गुलाम बना देता है। क्रमशः दलित धार्मिक अधीनस्थता को स्वीकार करने लगता है। तब उसके मन में सिर्फ सवर्ण से संवाद करनेवाले, सिर्फ उनके अपने, दलित से बहुत दूर रहनेवाली ईश्वरीय अवधारणा पनपने लगती है। ऐसी ईश्वरीय परिकल्पना उसके मन में भक्ति से ज्यादा भय पैदा कर देती है। तब यह जातिप्रथा को चुनौती देने की क्षमता खो देता है। यही नहीं वह

जातिगत हीनताबोध का भी शिकार बन जाता है। फलतः वह सवर्ण विचार एवं आचारों को सम्मान के साथ देखता है और उसका अंधाधुंध नकल भी करता है। इसप्रकार कोई प्रकट दबाव के बिना दलित सांस्कृतीकरण का शिकार होकर अपनी अधीनस्थता को बरकरार रखता है। इससे सवर्ण वर्चस्व और भी मज़बूत बनता है।

सवर्ण वर्चस्व के प्रतिरोध के लिए दलित में विद्यमान ईश्वरीय अवधारणा को तोड़ना बहुत ज़रूरी है। इसके लिए एक दलित केंद्रित 'प्रति ईश्वरीय दर्शन' (दलित ईश्वरीय दर्शन) का सृजन करना ज़रूरी है। यह 'प्रति ईश्वरीय दर्शन' किस प्रकार सवर्ण वर्चस्व का प्रतिरोध करता है? एस.आर. हरनोट की 'सवर्ण देवता दलित देवता' कहानी में मुख्य पात्र एक दलित नौजवान है। वह सवर्णों द्वारा अपमानित होता है। वह मन ही मन अपने अपमान के कारणों को विश्लेषित करके सवर्ण ईश्वरीय दर्शन के बारे में सोचने लगता है। "देवताओं में भी दलित देवता.....? सवर्ण देवता......? सवर्ण तो फटाफट सीढ़ियाँ ऐसे चढेंगे जैसे ये देवता इन्हीं के टब्बर-बिरादरी से हैं। पर इसमें शंका भी क्या.....? जिस अधिकार से जाते हैं होगा ही। दलितों के लिए तो द्वारपाल यानी दलित देवते बाहर नंगधडंग खडे हैं। सर्दी में भी। गर्मी में भी। पाला भी उन्हीं के ऊपर। आँधी-तूफान भी इन्हीं पर। न कपड़ा - न लत्ता। बस घटिया से लोहे की तारों से बनाए कडोले। एक चढ़ा दो तो बेचारे प्रसन्न। पर आलीशान कोठी में बसा मुख्य देवता तो नहीं लेगा न लोहे का कडोला। किसी की हिम्मत जो उसे चढ़ा दे। नहीं तो उम्र भर खोट-दोष का

भागी।"[1] इस तरह प्रस्तोता पात्र सवर्णों द्वारा उपेक्षित ईश्वरीय प्रतीकों की स्थितियों के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। अंत में वह सवर्णों की चढ़त से वंचित इन दलित देवताओं को पिता द्वारा सूट के लिए लाया गया कपड़ा चढ़ा देता है। वह कपडे को दलित देवता की मूर्ति के सिर से लेकर पाँव तक लपेटता है। उसके बाद उसका मन होता है कि छोटे रास्ते के बदले ब्राह्मणों के रास्ते से ही चला जायें। इस प्रकरण में कई सवाल उठ सकते हैं कि दलित ईश्वरीय दर्शन से तात्पर्य सवर्ण ईश्वरीय दर्शन के बदले दलित देवता की प्रतिष्ठा करना ही है? क्या यह मूर्तिपूजा एवं आचारों रूढ़ियों से ग्रस्त सवर्ण ईश्वरीय दर्शन की नकल नहीं है? कहानी में प्रस्तोता पात्र कपडे की चढ़त के ज़रिए एक दूसरे ढंग की मूर्तिपूजा का आरंभ तो नहीं कर रहा है? आदि। यहाँ दलित ईश्वरीय दर्शन विश्लेषण की मांग रखता है। जातिगत उपेक्षा एवं अपमान के शिकार बने जातीय प्रतीकों के साथ एक दलित मन का तादात्म्य ही दलित ईश्वरीय दर्शन है। यह कभी भी वर्चस्व एवं अनुष्ठानों का प्रतिरूप नहीं होता। दलित ईश्वरीय दर्शन दलित की सहस्थितियों के साथ सबसे करीब का रिश्ता स्थापित कर देता है। प्रस्तोता पात्र अपनी उपेक्षित स्थिति के कारण ही सवर्ण देवता के द्वारपाल बने दलित देवता की उपेक्षित स्थिति के करीब आ जाता है। यह अवस्थापरक तादात्म्य उसे संघर्ष करने की ताकत देता है। सवर्ण देवता से जुडे हुए भय एवं आचारों की गुलामी से उसे मुक्त करा देता है। अतः दलित ईश्वरीय दर्शन में भौतिक एवं

---

1. सूरज प्रकाश (सं) कथा दशक, एस.आर. हरनोट सवर्ण देवता दलित देवता, 2004, पृ. 23

अलौकिक अवस्थापरक तादात्म्य होता है। यह दर्शन सवर्ण ईश्वरीय दर्शन की 'अलौकिकता' की रहस्यात्मकता से जन्मी विकृतियों पर सवाल उठाते हैं। अतः प्रस्तोता पात्र के कपडे की चढ़त उसके प्रतीकात्मक अर्थ में (अवस्थापरक तादात्म्य से जन्मी ताकत से 'अलौकिकता' का अतिक्रमण) ही ज्यादा प्रतिरोधात्मक बनता है।

सवर्ण का धर्माधारित वर्चस्व श्रमाधारित वर्चस्व को बनाये रखने का माध्यम है। सवर्ण अपने धर्मगत वर्चस्व के द्वारा शारीरिक श्रम से स्वयं दूर रहता है। ईश्वरीय नियति का छद्म गढ़कर सवर्ण अस्वच्छ एवं अलाभदायक श्रमों का दायित्व दलितों पर थोप देता है। फलतः श्रम और जातीय पहचान एक दूसरे का पर्यायवाची बनता है। अगर कोई दलित अपना पेशा बदल भी लें तो भी उसे 'उच्च' मानने के लिए द्विज वर्ग तैयार नहीं है। वह दलित को हमेशा दलित ही बनाये रखना चाहता है। अतः कोई भी दलित द्विजवर्ग के जातिगत संस्कार को अपनाकर या अपना पेशा बदलकर अपनी जातिगत दुरवस्था से बच नहीं सकता। इसके लिए धर्मगत वर्चस्व के आगे प्रश्न चिह्न खड़ा करना है। दलित को दलित के रूप में मुक्ति मिलना है। इसके लिए कहानी दलित स्वत्व के आधार बने पेशे को हथियार के रूप में इस्तेमाल करती है। कहानी कर्मगत श्रेष्ठता को उजागर करके उसके ज़रिए धर्मगत श्रेष्ठता पर वार करती है। मृदुला गर्ग की 'जूते का जोड़ गोभी का तोड़' कहानी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इसमें एक मोची - जो चमार है अपने दोस्त - जो माली है - से कहता है कि अमावास को वे लोग महफिल लगाते हैं। उस दिन खाने-

पीने के साथ किस्से भी खूब चलते हैं। वह जूते की कसम खाकर कहता है कि उस दिन वह अपने दोस्त को किस्सा सुनानेवाली प्रतियोगिता में हरा देगा। दोस्त जब उससे जूते की कसम खाने के संबंध में पूछता है तो वह बताता है कि "राम रोटी न देता जूता देता है। जो पेट भरे सो पालनहार।"[1] मोची जूते की कसम के द्‌वारा दलित जाति की कर्मगत श्रेष्ठता को प्रमाणित करता है। उसके अनुसार मोची बनना उसकी कमी नहीं बल्कि खूबी है। जब मोची का दोस्त पूछता है कि तेरा बेटा अफसर है और तुम अब तक मोची का काम क्यों करता है तो वह बताता है कि "क्योंकि मोची वह या तुम नहीं, मैं हूँ। उसमें हुनर न आया तो मैं अपना क्यों खोऊँ"[2] मोची का यह कथन दलित स्वत्व को सशक्त रूप से रूपायित करता है। वह अपने वर्गगत अस्तित्व से जुड़ी गरिमा को त्यागने के लिए तैयार नहीं है। यहीं नहीं वह अपनी जाति को हेय दृष्टि से नहीं देखता। वह अपने को चमार ही कहलाना चाहता है। कहानी यहाँ कर्मगत एवं जातिगत मान्यताओं को सवर्ण वर्चस्व के द्‌वारा गढ़ी गयी 'निम्नता' के मानदण्डों से मुक्त करके उसे दलित स्वत्व की खूबी के रूप में प्रस्तुत करती है। कहानी दलित स्वत्व की अभिव्यक्ति का सही मंच प्रदान करती है।

जाति व्यवस्था मात्र धर्मगत दायरे में सिमटनेवाली प्रक्रिया नहीं है। उसका संबंध आर्थिक एवं सामाजिक तंत्र से भी है। इसलिए दलित मुक्ति व्यापक सामाजिक संघर्ष एवं सांस्कृतिक निर्माण के बिना संभव नहीं

---

1. मृदुला गर्ग जूते का जोड़ गोभी का तोड़, 2006, पृ. 250
2. वही पृ. 252

है। लेकिन अक्सर दलित मुक्ति आंदोलन अधिकारों की माँग तक सीमित रह जाता है। उससे जुडे व्यापक सामाजिक एवं सांस्कृतिक निर्माण के आंदोलन को नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है। फलतः दलित आंदोलन दिशाहीन हो जाता है। वह केवल आरक्षण का आंदोलन बनकर सिमट जाता है। किशन पटनाइक के अनुसार "अधिकारों की राजनीति के साथ निर्माण की राजनीति का संयोग न होने पर आंदोलन की दिशा राष्ट्र के लिए नकारात्मक साबित हो सकती है।"[1] आरक्षण के ज़रिए चंद दलितों को नागरिक अधिकार तो मिलता है, पर वे दलित वर्चस्व केंद्रित संस्कृति के प्रभाव से मुक्त हो, यह ज़रूरी नहीं है। वर्चस्व केंद्रित संस्कृति से प्रभावित दलित सांस्कृतीकरण को अपनाता है। तब वह खुद सवर्ण वर्चस्व की इच्छाओं को पालता है और उसके आगे सिर नवाता है। ओम प्रकाश वाल्मीकि की 'यह अंत नहीं है' में बिसनसिंह ऐसे ही एक दलित नेता है। वह पंचायत का प्रधान है। पंचायती आरक्षण के बल पर वह प्रधान बना था। गाँव की युवती बिरमा को गाँव के सवर्ण ज़मीनदार तेजभान का बेटा सचीन्दर जब छेड़ता है तो बिरमा का भाई अपने दोस्तों के साथी पंचायती प्रधान बिसनसिंह को अर्जी देता है। उसका परिणाम इस प्रकार है - "अर्जी देखते ही जैसे भूचल आ गया था। बिसनसिंह प्रधान पसीने-पसीने हो गया था। तेजभान के खिलाफ कोई भी कदम उठाने लायक ताकत उसमें नहीं थी। वैसे भी प्रधानी उसे अभी-अभी मिली थी। बिसन के दिमाग में यह बैठा हुआ था कि उसे प्रधान तेजभान ने ही बनाया

---

1. किशन पटनाइक विकल्पहीन नहीं है दुनिया, 2000, पृ. 228

है। वरना वह था क्या। उसे डर था कोई बावेला न हो जाए। बिरमा से ज्यादा उसे अपने लिए खतरा दिखाई दे रहा था।"[1] फलतः बिरमा को न्याय नहीं मिला। सचीन्दर को पाँच रुपया जुर्माना देने का हुक्म देकर वह बिरमा की इज्ज़त को पाँच रुपया मोल लगा देता है। यहाँ कहानी दलित आंदोलन को चंद दलितों के अधिकार प्राप्ति के सीमित दायरे में सिमटने का पक्षपाती नहीं है। अपर्युक्त कहानी में किसन और उसके साथी अंत में हार को जीत में बदलने का निर्णय लेते हैं। वे लोग बिरमा को न्याय दिलाने के साथ-साथ चाहते हैं कि आगे कोई बिसनसिंह न बनें। कहानी का यह मोड़ दलित आंदोलन को आरक्षण आंदोलन तक सीमित न रखकर व्यापक सामाजिक एवं सांस्कृतिक निर्माण प्रक्रिया एवं उसके संघर्ष के साथ जोड़ देता है।

दलित आंदोलन का संबंध सांस्कृतिक निर्माण से है। अतः दलित प्रतिरोध एक सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया है। मनुवाद द्वारा निर्मित संस्कृति मनुष्य को पशु का दर्जा देती है। सवर्ण वर्चस्व इस संस्कृति पर शर्म नहीं गर्व करता है। द्विज संस्कृति (मनुवादी संस्कृति) कभी भी संस्कृति की पारदर्शिता को नहीं स्वीकारती। द्विज संस्कृति में अनैतिकता की गोपनीयता को प्रमुखता दी जाती है। फलतः पाखंड नैतिकता का रूप धारण करता है। द्विज संस्कृति के इस पाखंड का चित्रण अरुण प्रकाश ने 'विषम राग' कहानी में किया है। इसमें कम्मो नामक पात्र क्वाटरों में गंदगी उठानेवाली दलित स्त्री है। वह क्वाटरों में रहनेवालों के

---

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि घुसपैठिए (सं), यह अंत नहीं, 2003 पृ. 26

प्रति बहुत प्रेम और सम्मान का भाव रखती है। समय मिलते ही वह उन लोगों की मदद भी करती है। अपनी बेटी गूजरी की शादी के अवसर पर वह सब मुहल्लेवालों को निमंत्रित करती है। सब लोग कोई न कोई बहाना बनाते हैं। मिसेज ठाकुर आती तो है पर व्रत का बहाना बनाकर चली जाती है। कम्मो मिठाई बाँधकर सबको देती है। पर अगले दिन सबके कचरे में मिठाई के डिब्बे पाती है। कम्मो कहती है - "ये अशराफ़ कितने ढोंगी हैं? मिठाई नहीं लेनी थी तो मना कर देते! सारी मिठाई बर्बाद कर दी। ढोंगी कहीं के। इनकी मीठी बोली ऊपर ही ऊपर है।"[1] एक तरफ कम्मो का खुला प्यार है। दूसरी तरफ सवर्णों के प्यार का ढोंग है। यह ढोंग उनके मन की गंदगी है। क्वाटरों की गंदगी उठानेवाली कम्मो का मन कितना साफ है। उसके मन की स्वच्छता द्विज संस्कृति की 'श्रेष्ठता' को नकारती है। सवर्ण संस्कृति में 'उच्चता' के नाम पर अनैतिकता ही बरकरार है। इस अनैतिकता के खिलाफ के कोई भी कार्यवाही को 'निम्न' घोषित किया जाता है। प्रस्तुत कहानी का उद्देश्य सिर्फ दलितों की संस्कृति को महिमामंडित करना मात्र नहीं है। बल्कि दलित संस्कृति का तात्पर्य दबायी गयी एक संस्कृति के समतामूलक मूल्यों से है। द्विज संस्कृति जो मात्र द्विजों की नहीं, बल्कि वर्चस्व केंद्रित संस्कृति का पर्यायवाची है। कहानी यहाँ एक दबी हुई संस्कृति की पारदर्शिता को सामने ले आकर आज की संस्कृति की अनैतिकता का पोल खोल देती है।

---

1. अरुण प्रकाश विषम राग, 2003, पृ. 176

दलित संस्कृति द्विज संस्कृति की तुलना में समतामूलक होने के साथ-साथ मानवीय भी है। इसलिए इस संस्कृति की पवित्रता का मापदंड सिर्फ मानवीयता है। दलित संस्कृति की इस मानवीयता का चित्रण सूरजपाल चौहान ने 'बाबूजी फिर कब आऊँ' कहानी में किया है। इसमें तसनीम नामक एक बीस बाईस वर्ष की युवती है। वह कचरे से प्लास्टिक की पन्नियाँ, बोतलें व अन्य चीजें बीनती है। संजीव मल्होत्रा नामक युवक सौ रुपया देकर उसके साथ शारीरिक संबंध जोड़ता है। संजीव के साथ शारीरिक संबंध रखना उस युवती की मज़बूरी है। उसका पति लकवा - ग्रस्त है। उसके उपचार पर बहुत पैसे खर्च हुए थे। अब उसके पास पति के इलाज के लिए रुपया नहीं है। उसके दो छोटी बेटियाँ भी हैं। अपने परिवार के पेट पालने के लिए वह संजीव मल्होत्रा से शारीरिक संबंध रखने के लिए तैयार होती है। वह युवती रिश्तों की आत्मीयता को निभानेवाली है। यह मानवीयता ही उस युवती की श्लीलता है। संजीव मल्होत्रा के लिए यह शारीरिक संबंध दोस्तों से बताने लायक एक 'इंजाए' करनेवाली बात है। हर बार शारीरिक संबंध के बाद जाते समय वह लड़की सहज भाव से पूछती है कि बाबूजी फिर कब आऊँ? यह सवाल संजीव और उनके दोस्तों के लिए महज़ आनंद पैदा करनेवाला सवाल है। लेकिन इस सवाल की उपज उस स्त्री की मज़बूरी है। दूसरों की मज़बूरी से आनंद लेनेवाली संस्कृति कितनी गिरी हुई एवं अमानवीय है। संस्कृति की इस अमानवीयता के रहते द्विज संस्कृति किस पवित्रता का बखान कर सकती है? द्विज संस्कृति की 'पवित्रता' की अमानवीयता तब और प्रकट होती है जब संजीव कहता है - "दीपक, फिर भी जुकाम ठीक

न हो तो किसी भंगन के साथ..... तेरी कसम, जुकाम और बुखार पल - भर में ही ठीक हो जाएगा। ....भंगिन के साथ जब तू वह काम करने के बाद अपने आपको अपवित्र समझे तो गाय के पेशाब की छींटें देकर शुद्ध कर लेना।"[1] इस अमानवीय संस्कृति में जीकर भी सवर्ण वर्चस्व दूसरों के मानाधिकार के निर्णय करने का हक अपने पास रखता है। वह निरीह पर भ्रष्टता का लेबल छिपकाता है। जब मानवीय संबंधों को ऐयाशी न समझनेवाली युवती जब रिश्तों के दायित्वों को मन में रखकर पूछती है कि 'बाबूजी फिर कब आऊँ' तब प्रचलित मानाधिकार खुद एक प्रहसन बन जाता है। यह सवाल मानाधिकार के एक अन्य विकल्प को संप्रेषित करता है। वह है दलित संस्कृति की मानवीयता। यह द्विज संस्कृति के मानाधिकार देने के हक को नकारती है और मानाधिकार देने का हक अपने पास सुरक्षित रखती है।

दलित जीवन पर केन्द्रित कहानियाँ अलग-अलग तरीके से प्रतिरोध खडा कर रही है। इन कहानियों में जो प्रतिरोध है वह आरोपित नहीं है क्योंकि यह रचनाएँ यथार्थ के बहुलार्थी प्रकरणों से संबंधित है।

सांप्रदायिक प्रतिरोध

सांप्रदायिकता वर्चस्व स्थापन के लिए बनायी जानेवाली एक योजनाबद्ध पद्धति है। इसकेलिए वर्चस्वलोलुप शक्तियाँ धर्मगत अलगाववाद का इस्तेमाल करती हैं। इसकी समाप्ति उन्हें मंजूर नहीं है। इसलिए वे

---

1. सूरजपाल चौहान - बाबूजी फिर कब आऊँ, अपना पैगाम, नवंबर 07 - फरवरी 08, पृ. 21

धर्मगत समन्वयात्मकता के हर प्रयास को रोकती हैं। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति वे किसी धर्म की ओट में करती हैं। जबकि किसी भी धर्म के प्रति इनके मन में कोई प्रतिबद्धता या लगाव नहीं है। सांप्रदायिक शक्तियों की धार्मिक प्रतिबद्धता के छद्म को अवधेश प्रीत की 'हम ज़मीन' कहानी तोड़ती है। इसमें दो मुर्दे हैं जिसमें हिन्दू मुर्दा साठ साल का था और मुसलमान मुर्दा तीस साल का। मुसलमान आदमी राज मिस्त्री था। वह एक हिन्दू स्त्री का घर बनवा रहा था। तब हिन्दू कहलानेवाले कुछ लोगों ने इसका विरोध यह कहकर किया कि वह एक मुसलमान है। इसलिए हिन्दू स्त्री का घर नहीं बनवा सकता। हिन्दू स्त्री की बेटी की शादी नज़दीक आ रही थी। धमकी के बावजूद पुनः वह घर बनाने के लिए वहाँ गया। उन लोगों ने उसे मार दिया। शहर में इसी वजह से दंगा फैल गया। हर कहीं आग लगा दी गयी। फलतः वहाँ काम करनेवाला एक हिन्दू भी मर गया। पुलिस ने सारे राहगीरों के लाशों को गाढ़ दिया। हिन्दू लाश और मुसलमान लाश के बीच के वार्तालाप इसप्रकार है - "किसने मारा तुझे? पहले ने उत्सुकता से पूछा

"कातिलों ने" दूसरे ने छोटा-सा जवाब दिया।

"आखिर वे थे कौन? हिन्दू? पहले ने ज़ोर देंकर पूछा

"क्यों? मुसलमान क्यों नहीं हो सकते?"

"मुसलमान मुसलमान को क्यों मारेगा?"

"भाई, कातिल तो सिर्फ कातिल ही होता है।" दूसरे ने फलसफा दिया।"[1] कहानी का मुसलमान पात्र हिन्दू स्त्री की मदद करने पर मारा

1. अवधेश प्रीत हमज़मीन, 2006, पृ. 61

गया था तो हिन्दू पात्र एक मुसलमान के यहाँ काम करने पर हिन्दुओं द्वारा मारा गया था। ये दोनों धर्मगत द्वेष के कारण नहीं बल्कि अपने धर्मनिरपेक्ष रवैये के कारण मारे गये थे। कहानी यहाँ धर्म की ओट में चलनेवाली सांप्रदायिकता की अमानवीयता को दर्शाती है और उसकी धार्मिक प्रतिबद्धता के मुखौटे को उतारती है।

समकालीन कहानी सांप्रदायिकता को मानवीय अधिकारों के हनन के संदर्भ में देखती है। आपसी मेलजोल की संभावनाओं को अवरुद्ध करके सांप्रदायिक शक्तियाँ संस्कृति की जीवंतता को समाप्त करके उसे मृत बनाती है। एक मृत संस्कृति में मनुष्य का अस्तित्व मूल्यवान नहीं है। मृत संस्कृति मनुष्य को अपमानवीकृत करके देखती है। फलतः सांप्रदायिक शक्तियों द्वारा बेमौत मरनेवाले एवं जिंदगी के सही मायनों से विस्थापित होनेवाले लोग सिर्फ आँकड़ों में बदल जाते हैं। मृत संस्कृति इस आँकड़े को इतिहास का हिस्सा बनाकर एक बहुत बड़े यथार्थ से मुँह मोड़ देती है। समकालीन कहानी बैमौत मरनेवाले या बेजिंदगी जीनेवाले आमआदमी की अधूरी इच्छाओं एवं स्वप्नों को दर्ज करके इतिहास के इस बेलगाम रफ्तार पर संवेदना की लगाम डाल देती है। 'हम ज़मीन' में दो मुर्दों के बीच का वार्तालाप इसप्रकार है

"चल तेरी बात मान भी ली, तो जिंदगी में ऐसा क्या है, जिसके लिए उसे याद किया जाए?" पहले ने सीधे-सीधे हथियार नहीं डाला।

'बहुत कुछ, मसलन रोटी का स्वाद। बच्चों की किलकारी। मुहब्बत का जादू।

पहले ने दूसरे की बात बीच में ही काटकर उसे छेड़ा 'काफी आशिक मिज़ाज लगता है तू?"

"हाँ मैं ने जिंदगी से आशिकी की।" दूसरे ने सूफियाना जवाब दिया।

"लेकिन तू तो कह रहा था कोई ज़रूरी नहीं जो जिया वो जिंदगी ही हो।" पहले ने दूसरे को याद दिलाया।

'हाँ, मैं ने कहा था। वो तजुर्बे की बात थी,' दूसरे ने बगैर किसी हिचक के खुलासा किया, 'लेकिन वो जिंदगी ही है, जिसमें हर रोज़ जीने की कोई आस जागती है। हर रोज़ लगता है हालात बदलेंगे।'

'लेकिन बदला तो कुछ नहीं?' पहले ने जिरह सी की।

'हाँ, लेकिन आस तो फिर भी कायम रहती है न?' दूसरे के स्वर में गजब का विश्वास था।

'तू बहुत जीवटवाला है।' पहले ने हथियार डालते हुए दूसरे की तारीफ की।"[1]

यह संवाद जिंदगी से लगाव रखनेवालों को मौत की ओर धकेलनेवाली मृत संस्कृति को कटघरे में खड़ा कर देती है। यहाँ कहानी धर्म, राष्ट्र, प्रांत से ऊपर उठकर मनुष्य को अपने मानवीय अधिकारों से युक्त इंसान के रूप में देखती है। उनके जिंदा रहने की इच्छा एवं अधिकारों को कहानी मूर्त करती है। इसके आगे मृत संस्कृति की जड़ता

---

1. अवधेश प्रीत हमज़मीन, 2006, पृ. 62

के लिए कोई स्थान नहीं है। "उठना उन्हीं को होगा जो मारे जाने वाले हैं। उठना उन्हीं को होगा जिन्हें सृष्टि से लगाव है और जिंदगी से प्रेम। यह लड़ाई होगी अपने से प्रेम करनेवाले और मानवता से प्रेम करने वालों के बीच, खुद को श्रेष्ठ समझनेवाले और समाज को श्रेष्ठ मानने वालों के बीच।"[1] अतः यहाँ सांप्रदायिकता का प्रतिरोध संस्कृति की जीवंतता को लौटाने से ही संभव है। इसके लिए कहानी जीवन के प्रति अपनाये जानेवाली सकारात्मक दृष्टि को बढ़ावा देती है।

सांप्रदायिकता द्वारा सृजित अमानवीयता का एक अन्य परिणाम है रिश्तों की आत्मीयता का क्षरण। आपसी अविश्वास संवाद की संभावना तक को नष्ट करा देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को संकुचित धार्मिक, प्रांतीय दायरों में सीमित रखता है। संजीव की 'ज्वार' कहानी में बंगलादेश का चित्रण है जहाँ अब भी लोग पाकिस्तानी और भारतीय का भेद पश्चिमी बंगला - पूर्वी बंगला कहकर बनाये रखते हैं। यहीं नहीं लोग एक दूसरे पर संदेह करते हैं। इसकी एक वजह यह भी है कि लोग अब भी इतिहास की कटु यादों से मुक्त नहीं हुए हैं। यादों के घाव उन्हें अब भी 'सांप्रदायिक' बना देते हैं। इस मरहम को कुरेदकर सांप्रदायिक शक्तियाँ बड़ी आसानी से लोगों के मन में अपना स्थान ग्रहण करती हैं या उन्हें अपना मोहरा बनाती हैं। अतीत की कटु यादों की वजह से लोगों के मन की आद्रता सूख गयी है। अपने अपार दर्द को लेकर, एक दूसरे से अलगाव रखकर लोग भीतर ही भीतर टूट रहे हैं। अपने को पिघलाकर

---

1. रमणिका गुप्ता सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे, 2004, पृ. 76

वे एक धार्मिक स्वत्व को बनाये रखते हैं। मनुष्य की रूह को बंजर करके बरकरार रहनेवाला धार्मिक स्वत्व वर्तमान समाज का यथार्थ है। 'ज्वार' कहानी शिखा और अणिमा दी के जीवन के माध्यम से इस यथार्थ को व्यक्त करती है। इसमें शिखा अपनी मौसेरी बहन अणिमा दी और उनके परिवार से मिलने वर्द्धमान से फरीदपुर के सोनारदीघी आती है। वे लोग दंगे के समय बिछुड़ गये थे। सोनारदीघी पहले पाकिस्तान का हिस्सा था अब बंगलादेश का। बहुत मुश्किल से शिखा अणिमा दी के पास पहुँचती है पर अणिमा दी - जो अब अंजुमन बूड़ी नामक मुसलमान स्त्री बन चुकी थी - उसे पहचानने से इनकार करती है। उसके बाद वे लोग परिवार की अन्य लड़कियों के साथ नदी में नहाने जाती हैं और किसी बकरी को घडियाल के पकड़ने की आवाज़ सुनकर सब उन दोनों को छोड़कर भाग जाती हैं। तब अणिमा दी कहती है - "घडियाल के जबडे में फँसी बकरी की मिमियाहट हर कोई सुन सकता है, हमारी कोई नहीं.... जान बचाती या धर्म? हमने जान चुनी। कितना लडते, किस-किस से लड़ते हम? अब तुम अलग हो, हम अलग। तुम हिन्दू हो, हम मुसलमान तुम हिन्दुस्तान, हम पाकिस्तान।"[1] लोगों की संवेदना को कुंठित करके उसके दर्द की आवाज़ तक को अभिव्यक्तिहीन बनाकर यहाँ टिकनेवाली धर्म रूपी घडियाल की भयानकता यहाँ दर्ज है। धर्म रूपी घडियाल प्रत्येक मनुष्य की निष्कलंकता को खाकर शक्तिशाली रूप धारण कर रहा है। कहानी इस अमानवीयता का प्रतिरोध करती है। इसमें शिखा नामक पात्र इस

---

1. सूरज प्रकाश (सं) कथा दशक, संजीव ज्वार, 2004, पृ. 45

धर्मरूपी घडियाल के गिरफ्त में पड़कर संवेदनशून्य होकर जिंदा लाश बनकर जीने के लिए तैयार नहीं होती। इसमें शिखा बचपन से बिछुडी मौसेरी बहन जिन्होंने उसे पहचानने तक से इनकार कर दिया था उससे एक बार गले मिलने के लिए मृत्यु तक को स्वीकारने के लिए तैयार होती है। बाढ़ की ओट लेकर जब दोनों बहनें एक दूसरे को गले लगाती हैं तब मानवीय संबंधों की आद्रता एक बाढ़ की तरह उमड़ पड़ती है। इस उमड़ती बाढ़ में इतिहास के दर्द के मकबरे को बहा ले जाने की शक्ति है। आत्मीयता के इस ज्वार के आगे सांप्रदायिकता की अमानवीयता टिक नहीं सकती। आत्मीयता का यह सूत्र जनता को आपस में जोड़ता है।

सांप्रदायिकता कट्टर धार्मिक स्वत्व को महत्व देती है। फलतः देशीयता जैसे गैर धार्मिक स्वत्व विलुप्त होता है। लोग नागरिक व्यक्तित्व को भूलकर एक दूसरे पर कट्टर होने का आरोप लगाते हैं। यहीं नहीं लोग धार्मिक व्यक्तित्व को नागरिक व्यक्तित्व से ज्यादा महत्व भी देते हैं। यह प्रवृत्ति हर समुदाय में विद्यमान है। मुसलमान लोगों की इस प्रवृत्ति के संबंध में असगर वजाहत ने लिखा है - "असुरक्षा और भय के कारण मुसलमान 'घोटो' बन गये हैं। मुस्लिम-बहुल इलाके प्रायः तंग, गंदे और सामान्यनागरिक सुविधाओं से वंचित हैं। लेकिन वहाँ रहनेवालों में अपनी साझी समस्याओं को दूर करने की कोई चिंता या कोई प्रयास नज़र नहीं आता।"[1] धर्म लोगों को अपनी नागरिक सुविधाएँ दिलवाने के प्रति

---

1. असगर वजाहत भारतीय मुसलमान वर्तमान और भविष्य (लेख), हंस, अगस्त 2003, पृ. 7

उदासीन है। लोग भी धर्म के दायरे से परे जाकर नागरिक की तरह सोचने के लिए तैयार नहीं है। लोग अपने मानवाधिकारों को धार्मिक दायरों के लिए त्यागने के लिए तक तैयार होते हैं। क्योंकि धार्मिक दायरा उनके लिए मानवाधिकार से बढ़कर है। फलतः लोग मुख्य धारा से कट जाते हैं। कॉमन सिविलकोड से ज्यादा वे शरीयत कानून को मानने लगते हैं। कभी-कभी उन्हें कॉमन सिविल कोड अपने मौलिक अधिकारों का हनन जैसे लगते हैं। यहाँ धर्म और सामाजिक दायित्व का तालमेल टूट जाता है। अलका सरावगी की 'रिप्पन स्ट्रीटर परवीन अख्तर' कहानी में इस स्थिति का प्रतिरोध दर्ज है। इसमें परवीन अख्तर और अंजली एक ही कॉलेज में पढ़ती हैं। दोनों में गहरी दोस्ती है। परवीन हमेशा उदास रहती है। कारण वह एक मुसलमान बहुल इलाका रिप्पन स्ट्रीट में रहती है। वह एक पिछड़ा हुआ इलाका है। वहाँ से अपने परिवार सहित वह जाना चाहती है। कहीं कोई घर या प्लाट भाडे में लेने की कोशिश करती है। पर कोई उसे मकान देने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि वह मुसलमान है। सभी से वह अपनी रिप्पन स्ट्रीट की बदहाली बताकर किराये की मकान के बारे में पूछती है। फलतः सब लोग उसे रिप्पन स्ट्रीटर परवीन अख्तर कहकर बुलाते हैं। अंजली से भी यही कहा गया है कि उससे दूर रहो। मुसलमान लोग बहुत कट्टर होते हैं। मुसलमान लोगों को कट्टर कहनेवाले ये लोग कभी भी मुसलमानों के लिए 'खुलते' नहीं है। परवीन अपने धार्मिक कवच की सुरक्षा मात्र देखती तो रिप्पन इलाके के अन्य लोगों की तरह स्ट्रीट में खुश रह सकती है। पर वह अपनी समस्याओं को धार्मिक समस्याओं तक सिमटकर देखने के लिए तैयार नहीं है। बहुसंख्यकों

की धार्मिक कट्टरता न उन्हें स्वीकारती है और न अल्पसंख्यक की धार्मिक कट्टरता उसे छोड़ती है। कॉलेज में पढ़ते समय ही उसकी शादी करवा दी जाती है। उसे पढ़ाई बीच में ही छोड़नी पड़ती है। बहुत साल बाद जब अंजली से मिलती तो वह बताती है कि अब वह दूसरे इलाके में रहती है, जो रिप्पन स्ट्रीट से भी पिछड़ा है। साथ में वह बड़ी उत्सुकता के साथ अंजली से पूछती है कि कहाँ रहती है? क्या करती है? बच्चे कहाँ पढ़ते हैं आदि। इसका जवाब उसे मायूस कर देती है क्योंकि न उसे ये नागरिक सुविधाएँ प्राप्त है न उनके बच्चों को। फिर भी परवीन अख्तर अब भी धार्मिक कट्टरता के गिरफ्त में नहीं आयी है। अपनी बदहालत स्थिति में भी वह खोजती है कि कहीं और जगह भाड़े में कोई मकान मिलेगा? उसका यह सवाल धार्मिक कट्टरता के खिलाफ उठनेवाले नागरिकबोध का सवाल है। नागरिक बोध के सवालों में धार्मिक कट्टरता को तोड़ने की शक्ति है। क्योंकि यह सवाल आलोचनात्मक विवेक पर केंद्रित है। इसमें धार्मिक कट्टरता को तोड़ने एवं समुदाय के भीतर जनतांत्रीकरण करने की भी ताकत है। भीतरी जनतांत्रीकरण का अभाव समन्वय के रास्ते को रोकता है। भीतरी जनतांत्रीकरण का आरंभ पहले व्यक्ति से ही शुरू होता है। कहानी की परवीन अख्तर की मकान की तलाश वास्तव में भीतरी जनतांत्रीकरण की शुरुआत है। यह संस्कृतियों के समन्वय का रास्ता खोल देता है।

सांप्रदायिकता का प्रतिरोध बहुत ही प्रासंगिक मुद्दा है। सांप्रदायिक दंगों के पश्चात् सांप्रदायिक प्रतिरोध के कार्यक्रम यहाँ हर बार आयोजित

होते हैं। फिर भी दंगों का सिलसिला समय-समय पर चलते ही रहते हैं। यह प्रतिरोधी कार्यक्रम की विफलता को द्योतित करती है। सांप्रदायिक प्रतिरोधी कार्यक्रमों की विफलता खुद एक सांस्कृतिक समस्या है। कहानी सांस्कृतिक प्रतिरोध के छद्मों को सामने ले आकर प्रतिरोध के सही रास्ते की तलाश करती है। सांप्रदायिक प्रतिरोध एक जनतांत्रिक प्रक्रिया है। लेकिन प्रतिरोध के इस पक्ष को हमेशा नज़रअंदाज़ किया जाता है। आज सांप्रदायिक प्रतिरोध का लगाम कई संकुचित नेतृत्वों के हाथ में है। उनके लिए सांप्रदायिकता एक भावनात्मक समस्या है। निस्सहाय मनुष्यों के जीवन से जुड़ी गंभीर समस्या नहीं। इसलिए वे लोग समस्याओं की गहराइयों में उतरने एवं लोगों से संवाद करने के लिए तैयार नहीं। फलतः सांप्रदायिक प्रतिरोधी सम्मेलन अक्सर भद्र लोगों द्वारा भद्र लोगों के लिए भद्र स्थान एवं समय पर चलाये जानेवाला एक उत्सव बन जाता है। आम लोगों की अनुपस्थिति यहाँ मुख्य नहीं मानी जाती। लेकिन ऐसी सभाओं में आम लोगों के जीवन संदर्भों को अलंकृत करके प्रस्तुत किया जाता है। इसके ज़रिए राजनीतिज्ञ, शिक्षाशास्त्री, एवं साहित्यकारों से युक्त सामाजिक नेतृत्व अपने वैचारिक, चेतनापरक एवं संवेदनात्मक नाट्य प्रदर्शित करते हैं। असगर वजाहत की 'जख्म' कहानी में इस यथार्थ का चित्रण है। इसमें मुख्तार नामक एक पात्र है। जिसके सिर पर दंगे के वक्त चोट लग जाती है। जख्म ताज़ा है और वह दंगे के तीन महीने बाद आयोजित सांप्रदायिकता प्रतिरोधी सम्मेलन में भाग लेने के लिए शहर आता है। प्रस्तोता पात्र भी उसके साथ आता है। भाषण एक भव्य इमारत में आयोजित है। भाषण का आरंभ उपकुलपति करते हैं। वे अपने भाषण

में बहुत विद्वतापूर्ण ढंग से सांप्रदायिकता की समस्या का विश्लेषण करते हैं। उसके खतरनाक परिणामों की ओर संकेत करते हैं और लोगों को इस चुनौती से निपटने को कहते हैं। कोई बीस मिनट तक बोलकर वे बैठ जाते हैं। तालियाँ बजती हैं। पंजाब के मंत्री, स्वतंत्रता सेनानी दूसरे वक्ता हैं। वे अपने मुसलमान, हिन्दू और सिक्ख दोस्तों का स्मरण करते हैं। साथ में यह भी कहते हैं कि इन लड़ाइयों को गलियों और खेतों में लड़ने की ज़रूरत है। आगे लेखक भाषण देते हैं। इन लोगों की खासियत यह है कि जब दंगे होते हैं तो ये लोग अपने घर में बैठकर अखबार पढ़ते हैं। ये लोग भाषण उन लोगों के सामने देते हैं जो पहले से फिरकापस्ती के खिलाफ है। ये लोग न दंगाग्रस्त इलाके में जाते हैं न भाषण देते हैं। दंगा करनेवालों के नाम सब लोग जानते हैं फिर भी कोई भी उनके नाम लेने के लिए तैयार नहीं। कुलमिलाकर सांप्रदायिकता प्रतिरोधी कार्यक्रम सामाजिक नेतृत्व के समझौतापरस्ती और ढोंग को व्यक्त करता है।

छद्‌म सांप्रदायिक प्रतिरोध को आयोजित करनेवाले नेतृत्व में मनुष्यता के जख्म को आत्मसात करने की क्षमता नहीं है क्योंकि वे कभी भी अपने से परे नहीं सोच सकते। 'जख्म' में मुख्तार कहता है "प्रोफेसर साहब कह सकते थे अगर फिर दिल्ली में दंगा हुआ तो वे भूख हड़ताल पर बैठ जायेंगे। राइटर जो थे वो कहते कि फिर दंगा हुआ तो वे अपनी पद्‌मश्री लौटा देंगे। स्वतंत्रता सेनानी अपना ताम्रपत्र लौटाने की धमकी देते।"[1] इससे यह बात स्पष्ट होती है कि इनके द्वारा चलाये

1. असगर वजाहत उनका डर तथा अन्य कहानियाँ, जख्म, पृ. 2004, पृ. 101

जानेवाले प्रतिरोधी कार्यक्रम एक 'चमकती छवि' के अलावा कुछ भी नहीं छोड़ता। यह 'चमकती छवि' सह-अस्तित्व की चेतना को पुनर्सृजित नहीं कर सकती। यहीं नहीं इससे वास्तविक प्रतिरोध की निष्क्रियता आच्छादित रहती है। फलतः मानवीयता का जख्म भरे बिना ताज़ा ही रहता है। कहानी यहाँ सांप्रदायिक प्रतिरोध के छद्म पक्षों का पोल खोलती है।

धर्म अपने विशाल अर्थ में समतामूलक है। पर व्यावहारिक जीवन में उसमें अधिकार का बोलबाला है। स्त्री के संदर्भ में धर्म ने पुरुष को ईश्वर से कम दर्जा नहीं दिया है। पति परमेश्वर, दुनियावी खुदा आदि पदों से अलंकृत पुरुष स्त्री पर अपना आधिपत्य कायम रखता है। उसकी ईश्वरीय छवि उसकी हरकतों पर प्रश्नचिह्न न लगने देती। न वह सवालों के प्रति सहिष्णुता रखता है। स्त्री खुद इस आधिपत्य को स्वीकारती है और प्रतिक्रियाविहीन रहती है। स्त्री की यह प्रतिक्रियाविहीनता उसे एक धार्मिक मोहरा बना देती है। वह अपने ईश्वर पति एवं उसकी दृष्टि से संचालित धार्मिक नियमों का पालन करके किसी 'आदर्श' छवि के लिए अपने को गढ़ती है। समय-समय पर समुदाय की 'इज्जत' को बचाने के लिए अपनी आहुति भी देती है। स्त्री की यह धार्मिक गुलामी उसे सांप्रदायिक प्रतीक चिह्न के रूप में तब्दील करा देती है। स्त्री को धार्मिक गुलामी एवं वर्चस्व की गिरफ्त से कैसे मुक्त किया जाय? अधिकार धर्मग्रंथों को हमेशा पुरुषाधिष्ठित नज़रिए से विश्लेषित करता है। धर्मग्रंथों में उल्लिखित बातों को वह अपने सुविधानुसार तोड़ता-मरोड़ता है। धर्मग्रंथों की स्त्रीपक्षीय व्याख्या का हमेशा विरोध होता रहा है क्योंकि वह

पुरुष वर्चस्व के आगे प्रश्न खड़ा कर देती है। नासिरा शर्मा की 'खुदा की वापसी' कहानी में फरज़ाना का शौहर जुबैर फरज़ाना द्वारा मेहर माफ करवाने की स्थिति पैदा कर देता है। पति को दुनियावी खुदा माननेवाली प्रथा के वशीभूत होकर फरज़ाना मेहर माफ कर देती है। लेकिन मेहरवाली तमाम इस्लामी कायदे कानून की खोज खबर कर लेती है तो उसे मालूम होता है कि इस्लाम के अनुसार मेहर पुरुष की ईमानदारी की सेक्युरिटी है। "मेहर का होना अत्यन्त ज़रूरी है, क्योंकि उस वायदे का 'टोकन मनी' या शुगून है, जो उसे पूरी जिन्दगी औरत की देखभाल के लिए किया है। यदि इनमें से कोई एक बात पूरी नहीं, तो निकाह या शादी अवैध करार दी जा सकती है।"[1] सदियों से मुल्ला मौलवियों ने मेहर को स्त्री की कीमत के रूप में व्याख्यायित किया है। फरज़ाना पति से मेहर पाने की कोशिश करती है। वह यहाँ तक निर्णय लेती है कि एक औरत के अधिकार को चालाकी से छीन लेनेवाले पुरुष के बच्चे को कोख में पहलने न देगी। वह अपने 'मजाजी खुदा' के अन्याय के आगे सिर नवाने के लिए तैयार नहीं होती। वह अपने पति के 'खुदा' रूप से इन्सान रूप में तब्दील होने का इंतज़ार करती है। क्योंकि वह जानती है कि पुरुष का यह 'खुदा' रूप शैतानी हरकतों का नकाब है। पुरुष अपने 'खुदा' रूप से तभी मुक्त हो सकता है जब वह स्त्री को इंसान के रूप में देखें, न कि वस्तु के रूप में। धर्म की यह स्त्रीपक्षीय व्याख्या स्त्री के धार्मिक सशक्तीकरण को बढ़ावा देती है। इस संबंध में नासिरा शर्मा ने लिखा है - "यह एक बहुत बड़ी

---

1. नासिरा शर्मा खुदा की वापसी, 1999, पृ. 24

हकीकत है कि हम या तो धर्म से ड़रते हैं या उसे सत्ता समझ लेते हैं, जबकि धर्म केवल योजनाबद्ध तरीके से जीवन जीने का एक रास्ता है। आज धर्म को समझना हमारे लिए बेहद ज़रूरी हो जाता है क्योंकि उसका गलत प्रयोग इन्सानों की जिन्दगी को बेहद दुश्वार बना रहा है। इसलिए मेरे लिए ये कहानियाँ लिखना बहुत जरूरी था, ताकि मैं वह सारे कानून जो इन्सान के फायदे में जाते हैं, उन्हें अपने लेखन का माध्यम बना साहित्य द्वारा एक नये संघर्ष की शुरुआत कर सकूँ और उस 'एन्शण्ड विज्डम' से लाभ उठा सकूँ जो हमारा अतीत है और वर्तमान पर बुरी तरह हावी है।"[1] अतः स्त्री को धर्म से नहीं धर्म की पुरुषपक्षीय व्याख्या से बचना चाहिए। यह व्याख्या स्त्री को जड़ सांप्रदायिक प्रतीक चिह्न बनने से रोकती है।

संक्षेप में समकालीन कहानी सांप्रदायिक समस्या को धार्मिक समस्या के रूप में नहीं नष्टप्राय मानवाधिकारों की समस्या के रूप में देखती है। इसलिए कहानी इसके प्रतिरोध हेतु दबने के लिए विवश इच्छाओं एवं आकांक्षाओं को एक शक्ति के रूप में सामने ले आती है। यही नहीं सक्रिय विवेक एवं गतिशील चेतना के ज़रिए कहानी सांप्रदायिक प्रतिरोध कार्यक्रमों को मात्र 'उदारता' के जनप्रिय माहौलों से दूर ले आकर उसे एक जनतांत्रिक प्रक्रिया बनाती है।

संक्षेप में समकालीन प्रतिरोधी कहानियाँ आज की सामाजिक व्यवस्था से भिन्न एक बेहतर सामाजिक व्यवस्था की खोज का परिणाम है।

---

1 नासिरा शर्मा खुदा की वापसी (भूमिका), 1999, पृ. 9

समकालीन कहानी का प्रतिरोध जड़ व्यवस्था के प्रति विद्रोह मात्र से समाप्त नहीं होता। वह लघु समाज की इच्छित प्रतिव्यवस्था को भी सृजित करता है। यह इच्छित प्रतिव्यवस्था सांस्कृतिक पुनर्निर्माण से ही संभव है। अतः समकालीन कहानी का प्रतिरोध सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की व्यवस्था है। यह समकालीन कहानी की सांस्कृतिक उपादेयता को प्रमाणित करता है।

उपसंहार

उपसंहार

समकालीन कहानी गहन जीवन बोध की सक्रिय रचनात्मकता का नाम है। सामाजिक संपृक्ति ही समकालीन कहानी की पहचान है। सत्तर के दशक में उसकी यात्रा शुरू हुई थी।

रचना की सामाजिकता या उसकी साहित्यिकता मात्र की खोज करने से कृति की बेहतर व्याख्या संभव नहीं है। उसके लिए रचना की साहित्यिकता और सामाजिकता के बीच अंतरंग संबंध की पहचान को रेखांकित करना ज़रूरी है। इस दृष्टि के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय अध्ययन कृति की बेहतर आलोचना पद्धति है। इसमें रचना की साहित्यिकता को उसकी व्यापक सामाजिकता से संपृक्त करके देखने की मानवीय दृष्टि को प्रमुखता मिलती है।

कहानी अपने संक्षिप्त आकार में भी कई सांकेतिक प्रकरणों को अपने में समेटी हुई रहती है। कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में अध्येता उन तमाम सांकेतिक प्रकरणों को बहुलार्थी संदर्भों में रखकर परखत है। सांकेतिक प्रकरणों के आधार पर अध्येता कहानी के बाहर के कई विषयों पर भी विचार कर सकता है। इस तरह अध्येता कहानी की अध्ययन-प्रक्रिया को अधिक गंभीर बनाता है। कहानी के समाजशास्त्रीय अध्ययन में यह भी ध्यान दिया जाता है कि अध्येता कहानी पर अपनी इच्छापूर्ती का आरोप नहीं करता है। इस विवेचना में होता यह है कि वह

कहानी की रचनात्मक संभावना को ध्यान में रखकर आलोचना दृष्टि को नया आयाम प्रदान करता है। ऐसे में कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन इतिहासबोध से युक्त भी हो जाता है।

अधिकाधिक जटिल और अपरिभाषेय लगनेवाले जीवन संदर्भ समकालीन कहानी में उपलब्ध हैं। कहानी का इच्छित अभिप्राय उसकी सूक्ष्मता का रेखांकन है। इस कारण से समकालीन जीवन के अंतर्विरोधों को दर्ज किये बिना समकालीन कहानी नहीं लिखी जा सकती। जीवन जिसप्रकार अंतर्विरोधी है उसीप्रकार उसके अलग-अलग वर्गों का जीवन भी अंतर्विरोधी है। समकालीन कहानी में चित्रित इन वर्गगत अंतर्विरोधों में प्रमुख हैं मध्यवर्गीय संस्कृति के अंतर्विरोध। समकालीन कहानी में अपने को विशिष्ट एवं अलग समझनेवाले, अपने से बाहर न देखनेवाले या न देख सकनेवाले, दबा दिये गये प्रगतिशील स्वरों के लिए संघर्ष न करनेवाले, असुरक्षित माहौल से बचने के लिए रूढ़ विचारधाराओं की कैद को स्वीकारनेवाले असंख्य मध्यवर्गीय पात्रों एवं स्थितियों का चित्रण है। मध्यवर्गीय अंतर्विरोधों का समाजशास्त्र सिर्फ मध्यवर्ग के मामूली जीवन के स्थित्यंकन तक सीमित नहीं है। यह समाज के एक विशिष्ट वर्ग के विशेष स्वभाव का आकलन है। संस्कृति की धनकेंद्रीयता, बढ़ता सुविधाभोग, वर्गगत अलगाव, कट्टर धार्मिकता, आधुनिकता का खोखलापन आदि कई अंतर्विरोधों का समाजशास्त्र मध्यवर्गीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अधिक खुलता है। यहीं नहीं ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, जितेंद्र भाटिया, स्वयं प्रकाश, जयनंदन आदि कई कहानीकारों की कहानियों में दर्ज

मध्यवर्गीय संदर्भो का समाजशास्त्र कई ज्वलंत सामाजिक समस्याओं के बदलते एवं बढ़ते रूपों को भी प्रस्तुत करता है।

मनुष्य का जीवन राजनीतिक गतिविधियों के प्रभाव से विरत नहीं रह सकता। इसलिए समकालीन कहानी कई राजनीतिक प्रसंगों को अपनी विषयवस्तु के रूप में स्वीकारती है। समकालीन कहानी में अंकित सभी राजनीतिक गतिविधियाँ एक ही बिन्दु पर केंद्रित है। वह है अधिकार। अधिकार के विकृत रूप और इसके अधीन में चरमराते आम आदमी एवं उसके मानवीय अधिकार इन कहानियों के मुख्य स्वर हैं। इसमें नष्टप्राय मानवीय अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में अधिकार केन्द्रित शक्तियों की निरंकुशता विवेचित एवं विश्लेषित होती है। यह हमारी जनतंत्र व्यवस्था के खोखलेपन को अधिक मूर्त रूप में सामने ले आती है। राजनीतिक विषयों पर लिखी गयी समकालीन कहानी का समाजशास्त्र वास्तव में हमारे इतिहास का आकलन है। इतिहास के इस आकलन वर्तमान आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक व्यवहारों के तात्पर्य को व्यक्त करता है।

संस्कृति स्वस्थ सामाजिक जीवन को सुनिश्चित करके उसे निरंतरता प्रदान करती है। अतः संस्कृति एक मनुष्य केंद्रित अवधारणा है। लेकिन संस्कृति जब इस मनुष्य केन्द्रित अवधारणा से विचलित हो जाती है तब वह स्वार्थ केंद्रित, संकुचित, वर्चस्व केंद्रित दृष्टि बन जाती है। यह वर्चस्व केंद्रित संस्कृति लिंग, वर्ण, वर्ग आदि के आधार पर समाज को विभक्त करके मानवाधिकारों को कुचल देती है। समकालीन कहानी इस पतनोन्मुख संस्कृति को विस्तृत पटल पर उतारती है। हमारे समाज की 'स्वस्थ' कही जानेवाली सामाजिक संस्थाएँ अपसंस्कृति की

घिनौनी वृत्तियों से मुक्त नहीं हैं। उसका संतुलन बाहरी है भीतरी नहीं है। समकालीन कहानी अपसंस्कृति में निहित शोषणतंत्र के विराट इतिहास को दर्ज करती है।

समकालीन कहानी का समाजशास्त्र दरअसल सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के तहत हमारी जीवन-परिस्थितियों और मानसिकता में आये बदलाव को प्रखरता के साथ पेश करती है। इसमें एक ओर विकृत माहौल में जीने के लिए विवश बने लोग हैं तो दूसरी ओर धन केंद्रित संस्कृति की निष्ठुरता के कारण अस्तित्व तक से वंचित लघु समाज है। जड़ से उखड़कर फेंक दिये गए लोगों के यथार्थ को समकालीन कहानी अतिसूक्ष्म संवेदना के धरातल पर उतारती है। तब से कहानियाँ संस्कृति के छद्म को तोड़कर हमारी गतिशील सांस्कृतिक दृष्टि को पुनर्सृजित करके प्रस्तुत करती हैं।

समय और परिवेश के प्रति संवेदनात्मक हुए बिना समकालीन कहानी समकालीन नहीं हो सकती। समकालीन कहानी की इस सामाजिक प्रतिबद्धता के सूचक हैं लघु समाजों के यथार्थों का सूक्ष्मांकन। लघु समाज वास्तव में मानवीय अधिकार से वंचित सामान्य जनों से युक्त जीवंत समाज है। लघु समाज वर्चस्व केंद्रित व्यवस्था से बुरी तरह से त्रस्त और प्रताडित है। फिर भी बेहतर स्थिति के लिए परिवर्तन की इच्छा उसमें सुरक्षित है। यह इच्छा-शक्ति उन्हें प्रतिरोध के लिए प्रेरित करती है। समकालीन कहानी के प्रतिरोध को इसी संदर्भ में देखना चाहिए।

अपसंस्कृति के आगे लघु समाज और उसकी संस्कृति नगण्य है क्योंकि वह उसके अस्तित्व को नष्ट कर देने वाली है। समकालीन

कहानी इस ध्वंस के यथार्थ को सामने ले आती है। अतः लघु समाजों के यथार्थ प्रस्तुतीकरण खुद एक प्रतिरोध है। समकालीन कहानी में लघु समाज अपनी विवशता और बेबसी के साथ दर्ज है। इन कहानियों में प्रतिरोध के दो पहलुओं को हम देख सकते हैं। पहला है - इन कहानियों में प्रकटतः ध्वन्यांकित प्रतिरोध कम है। लेकिन इन कहानियों को हम प्रतिरोधविहीन कहानियाँ नहीं कह सकते। यहाँ प्रतिरोध कहानी की संवेदना में अंतर्युक्त हिस्सा है। समकालीन कहानी का समाजशास्त्र प्रतिरोध के इस पाठ को विपुल सामाजिक संदर्भों से जोड़कर उसकी प्रतिरोधी क्षमता को सामने ले आता है। समकालीन कहानी में प्रतिरोध का एक अन्य पहलू भी है। इसमें प्रतिरोध प्रकट है। प्रत्यक्ष रूप से प्रतिरोध दर्शाने वाले कई पात्रों को इन कहानियों में देख सकते हैं। समकालीन कहानी का समाजशास्त्र् प्रतिरोधित करने वाले पात्रों के ज़रिए सांस्कृतिक संभावनाओं के अंतर्द्वार को खोल देता है। संक्षेप में, समकालीन कहानी का प्रतिरोध और उसका समाजशास्त्र अपसंस्कृति के लिए एक रचनात्मक चुनौती ही है।

समकालीन कहानी का समाजशास्त्रीय अध्ययन समकालीन कहानी की सामाजिक संपृक्तता का विवेक युक्त मूल्यांकन है। यह कथाध्ययन भी है और जीवन का अध्ययन भी। जीवन की विविधरंगी संश्लिष्टताओं ने समकालीन कहानी की संरचनात्मक स्थिति को भी समृद्ध किया जो उसके सामाजिक संपृक्ति से अलग नहीं है। अतः उसका सौंदर्य सांस्कृतिक अंतर्धाराओं का प्रक्षेपण है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

कहानी संग्रह

1. अंधेरा — अखिलेश
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2006

2. अगला यथार्थ — हिमांशु जोशी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2006

3. अम्मा — मेहरुन्निसा परवेज़
ज्ञान गंगा
नई दिल्ली-1
प्र.सं. 1997

4. आएँगे अच्छे दिन भी — स्वयं प्रकाश
राजकमल प्र.लि.
नई दिल्ली
प्र.सं. 1991

5.	आदमी जात का आदमी	स्वयं प्रकाश किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1994
6.	आदमीनामा	काशीनाथ सिंह प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली प्र.सं. 1978
7	आधी सदी का सफरनामा	स्वयं प्रकाश यात्रा बुक्स नई दिल्ली प्र.सं. 2006
8.	आप यहाँ है	संजीव अक्षर प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1984
9.	आरोहण	संजीव यात्रा बुक्स नई दिल्ली प्र.सं. 2006
10.	उनका डर तथा अन्य कहानियाँ	असगर वजाहत शिल्पायन नई दिल्ली प्र.सं. 2004

11. एक अपवित्र पेड़ — प्रियंवद
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
नई दिल्ली
दू.सं. 1997

12. ओ सोनकिसरी — चंद्रकांता
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1991

13. कथा दशक — सं. सूरज प्रकाश
मेधा बुक्स
नई दिल्ली
प्र.सं. 2004

14. कर्फ्यू तथा अन्य कहानियाँ — नमिता सिंह
शिल्पायन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2004

15. कन्या तथा अन्य कहानियाँ — शैलेश मटियानी
प्रतिभा प्रतिष्ठान
नई दिल्ली
प्र.सं. 2005

16. कहानी उपखान — काशीनाथ सिंह
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2003

17 कहानी की तलाश में — अलका सरावगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दू.सं. 2003

18. काला शुक्रवार — सुधा अरोड़ा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2004

19. कितनी कैदें — मृदुला गर्ग, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1975

20. केशर - कस्तूरी — शिवमूर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दू.सं. 1994

21. खुदा की वापसी — नासिरा शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दू.सं. 1999

22. ग्राम्य जीवन की कहानियाँ — सं. गिरिराज शरण, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2002

23. गोमा हँसती है — मैत्रेयी पुष्पा
किताबघर प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1998

24. घुसपैठिए — ओमप्रकाश वाल्मीकि
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2003

25. चार दिन की जवानी तेरी — मृणाल पाण्डे
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1995

26. चर्चित कहानियाँ — पंकज विष्ट
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1996

27 चर्चित कहानियाँ — रमेश उपाध्याय
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1995

28. जिनावर — चित्रा मुद्गल
किताब घर प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1996

29. जूते का जोड़ गोभी का तोड़ — मृदुला गर्ग
यात्रा बुक्स
नई दिल्ली
प्र.सं. 2006

30. दत्तात्रेय के दुख — उदय प्रकाश
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2002

31. दलित जीवन की कहानियाँ — सं. गिरिराज शरण अग्रवाल
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2002

32. दस प्रतिनिधि कहानियाँ — मिथिलेश्वर
किताब घर प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2006

33. दूसरी कहानी — अलका सरावगी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2003

34. दूसरी औरत की कहानियाँ — सं. चित्रा मुद्‌गल
प्रभात प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1988

35.	धुएं की ईमानदारी	कुसुम अंसल नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली प्र.सं. 1999
36.	नयी सदी की पहचान श्रेष्ठ महिला रचनाकार	सं. ममता कालिया राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 2002
37	निर्वासन	उर्मिला शिरीष भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली प्र.सं. 2003
38.	पॉल गोमरा का स्कूटर	उदय प्रकाश वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 2004
39.	पहरुआ	महेश कटारे मेधा बुक्स नई दिल्ली प्र.सं. 2002
40.	प्रतिनिधि कहानियाँ	ज्ञानरंजन राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली दू.सं. 1990

41. बंद रास्तों के बीच — मिथिलेश्वर
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
प्र.सं. 1988

42. बचुली चौकीदारिन की कढ़ी — मृणाल पाण्डे
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1990

43. बदलते हालात में — चन्द्रकांता
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2002

44. बयान तथा अन्य कहानियाँ — कमलेश्वर
लोक भारती प्रकाशन
इलाहाबाद
प्र.सं. 1972

45. माई का शोकगीत — दूधनाथ सिंह
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
दू.सं. 2004

46. मामला आगे बढ़ेगा अभी — चित्रा मुद्गल
प्रभात प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1994

47 मुक्ति — अखिलेश
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
दू.सं. 2001

48. मेघना का निर्णय — मिथिलेश्वर
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
प्र.सं. 1988

49. मेरी प्रिय कहानियाँ — रामदरश मिश्र
साहित्य सहकार
नई दिल्ली
प्र.सं. 1998

50. यह देह किसकी है — गिरिराज किशोर
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1990

51. रफ-रफ मेल — अब्दुल्ल बिस्मिल्लाह
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2000

52. रैनबसेरा — अब्दुल्ल बिस्मिल्लाह
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2001

53.	ललमनियाँ	मैत्रेयी पुष्पा किताब घर प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1996
54.	विषम राग	अरुण प्रकाश राजकमल प्रकाशन प्र.लि. नई दिल्ली प्र.सं. 2003
55.	शापग्रस्त	अखिलेश राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1997
56.	शिकस्त	कामतानाथ राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1992
57	शैलेश मटियानी की प्रतिनिधि कहानियाँ	शैलेश मटियानी साहित्य भंडार इलाहाबाद प्र.सं. 1985
58.	संगति-विसंगति (संपूर्ण कहानियाँ-2)	मृदुला गर्ग नेशनल पब्लिशिंह हाउस नई दिल्ली प्र.सं. 2004

59. संजीव की कथा-यात्रा दूसरा पड़ाव — संजीव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2008

60. सपना नहीं — ज्ञानरंजन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1997

61. सदी का सबसे बड़ा आदमी — काशीनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ती.सं. 1998

62. सब कहां कुछ — असगर वजाहत, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1996

63. सर्कस — विवेकी राय, ग्रंथ अकादमी, दरिया गंज, नई दिल्ली, प्र.सं. 2005

64. सिद्धार्थ का लौटना — जितेंद्र भाटिया, आधार प्रकाशन प्रा.लि., हरियाणा, प्र.सं. 2000

65. सूरज उगने तक — चन्द्रकांता
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली
प्र.सं. 1994

66. स्विमिंग पूल — असगर वजाहत
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1990

67 सेवड़ी रोटियाँ — हरि भटनागर
शिल्पायन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2004

68. सोने का बेसर — मेहरुन्निसा परवेज
सत्साहित्य प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1991

69. हम ज़मीन — अवधेश प्रीत
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2006

70. हरिजन सेवक — मधुकर सिंह
चित्रलेखा प्रकाशन
इलाहाबाद
प्र.सं. 1984

71. हिडिम्बा के गाँव में — बटरोही
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2002

आलोचनात्मक ग्रंथ

1. अंतरंग — रामदरश मिश्र
साहित्य सहकार
नई दिल्ली
प्र.सं. 1999

2. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य — सं. राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2001

3. अपनी उनकी बात — उदय प्रकाशन
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2008

4. अयोध्या कुछ सवाल — मालिनी भट्टाचार्य
सारांश प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1994

5.	अवधारणाओं का संकट	पूरन चंद्र जोशी राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 1995
6.	आज की राजनीति और भ्रष्टाचार -	नरेन्द्र मोहन राजपाल एण्ड सन्ज़ नई दिल्ली प्र.सं. 1997
7	आज़ादी के 50 वर्ष क्या खोया, क्या पाया भाग-2	देवेन्द्र उपाध्याय सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली प्र.सं. 1998
8.	आधुनिक हिन्दी कहानी	गंगाप्रसाद विमल ग्रंथलोक, नवीन शाहदरा नई दिल्ली प्र.सं. 2002
9.	आलोचना की सामाजिकता	मानेजर पाण्डे वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 2005

10. आलोचना भी रचना है — काशीनाथ सिंह, किताबघर, नई दिल्ली, प्र.सं. 1996

11. इतिहास और आलोचना — नामवरसिंह, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. 1962

12. ऊहापोह — गिरिधर राठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1998

13. एक अहिन्दु का घोषणापत्र — राजकिशोर, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्र.सं. 2002

14. एक भारतीय के दुख — राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2004

15.	कहानी में अनुपस्थित	गौतम सान्याल मेधा बुक्स नवीन शाहदरा नई दिल्ली प्र.सं. 1999
16.	कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा	रमेश उपाध्याय नमन प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1999
17	दलित चेतना साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार	रमणिका गुप्ता समीक्षा पब्लिकेशन्स गांधी नगर, नई दिल्ली प्र.सं. 2004
18.	दलित राजनीति की समस्याएँ	राजकिशोर वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 2006
19.	दलित साहित्य (वार्षिकी)	जयप्रकाश कर्दम आकादमिक प्रतिभा गीता कॉलोनी नई दिल्ली प्र.सं. 2006

20.	धर्म का दुखांत	शंभूनाथ आधार प्रकाशन प्र.लि. हरियाणा प्र.सं. 2000
21.	धर्म और सांप्रदायिकता	नरेन्द्र मोहन प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1996
22.	धरती की पुकार	सुन्दरलाल बहुगुणा राधाकृष्ण प्रकाशन प्र.लि. नई दिल्ली दू.सं. 2007
23.	नामवर संचयिता	नंदकिशोर नवल राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 2003
24.	परम्परा और परिवर्तन	श्यामाचरण दुबे भारतीय ज्ञानपीठ लोदी रोड नई दिल्ली प्र.सं. 2001

25. प्रेमचंद रचना संचयन	निर्मल वर्मा और कमल किशोर गोयनका साहित्य अकादमी रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली प्र.सं. 1994
26. फासीवादी संस्कृति और सेकुलर पाँप संस्कृति	सुधीश पचौरी राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली प्र.सं. 2005
27 बेहतर दुनिया की तलाश में	रमेश उपाध्याय शब्दसंधान प्रकाशन पश्चिम विहार नई दिल्ली प्र.सं. 2007
28. भारत की राजनीतिक संकट	सं. राजकिशोर वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1994
29. भारत का भूमंडलीकरण	अभयकुमार दुबे वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 2003

30. भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ — सच्चिदानंद सिंहा
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2003

31. भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र — प्रभा खेतान
सामयिक प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली
प्र.सं. 2007

32. मुक्तिबोध रचनावली-4 — सं. नेमिचंद्र जैन
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1980

33. मुक्तिबोध रचनावली-5 — सं. नेमिचंद्र जैन
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1980

34. राजनीतिशास्त्र की आधारभूत अवधारणाएँ — डॉ. दिनेश सिंह
विश्वनाथ केहरि प्रकाशन
गोरखपुर
प्र.सं. 1996

35. विकल्पहीन नहीं है दुनिया — किशन पटनाइक
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2000

36. संकट के बावजूद — मनोजर पाण्डे
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1998

37 समकालीन कहानी की भूमिका — विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1977

38. सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे — रमणिका गुप्ता
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 2004

39. सांस्कृतिक विमर्श — सच्चिदानंद सिंहा
वाग्देवी प्रकाशन
बीकानेर
प्र.सं. 2001

40. साहित्य समाजशास्त्रीय समीक्षा — डॉ. विश्वम्भर दयाल गुप्ता
सीता प्रकाशन
मोती बाज़ार
हाथ रस
प्र.सं. 1980

41.	साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका	मानेजर पाण्डे वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1989
42.	साहित्य और सामाजिक संदर्भ	शिवकुमार मिश्र कला प्रकाशन नई दिल्ली प्र.सं. 1977
43.	साहित्य का समाजशात्र अवधारणा, सिद्धांत एवं पद्धति	विश्वम्भर दयाल गुप्त सीता प्रकाशन मोती बाज़ार, हाथ रस प्र.सं. 1982
44.	साहित्य, संस्कृति और भारतीयता	ए. अरविन्दाक्षन जवाहर पुस्तकालय मथुरा प्र.सं. 2008
45.	श्रृंखला की कडियाँ	महादेवी वर्मा लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद तृ.सं. 2001
46.	स्त्री उपदेश	प्रभाखेतान हिन्द पॉकट बुक्स प्र.लि. नई दिल्ली दू.सं. 2004

47. स्वप्न और यथार्थ आज़ादी की आधी सदी — पूरन चंद्र जोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2000

48. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-9 — सं मुकुन्द द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1981

49. हिन्दुत्व की राजनीति — राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 1996

50. Communication in Society Volume-I - Lewo Lawenthel, Transcation Books, Ed. 1984

51. The Great Indian Middle Class - Pavan K. Varma, Penguin Books, Ed. 1998

पत्रिकाएँ

1. अनभै, अप्रैल-सितंबर 2006
2. अपना पैगाम - नवंबर 07 - फरवरी 2008
3. आलोचना - जुलाई-सितंबर 2003
4. कथन - जनवरी-मार्च 2001
5. कथन - अप्रैल-जून 2007
6. कथादेश - दिसंबर 2004
7 तत्‌भव - जनवरी 2007
8. पक्षधर (संकलन-2) 2007
9. बनास 2008
10. वागर्थ फरवरी 2002
11. वागर्थ सितम्बर 2005
12. समयांतर फरवरी 2008
13. सृजन परिप्रेक्ष्य - शिशिर-बसंत 2002
14. हंस सितंबर 2000
15. हंस मई 2002
16. हंस अगस्त 2003
17 हंस फरवरी 2004
18. हंस अगस्त 2005
19. हंस सितम्बर 2005
20. हंस दिसंबर 2005
21. हंस अगस्त 2006